साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा।

प्रथम संस्करण

१०००

मूल्य १।)

साहित्य प्रेस, आगरा।

प्रबन्ध और मुक्तक काव्य की भाँति साहित्य के इतिहास लिखने के भी दो तरीके हैं। एक तारतम्यपूर्ण और दूसरा साहित्य की प्रमुख धाराओं तथा उन प्रमुख कवियों को लेकर जो इन धाराओं के स्रोत वा शक्तिदाता कहे जा सकते हैं, स्फुट चर्चा के रूप में। श्री शिवनन्दन प्रसाद एम० ए० की साहित्य-वातायन नाम की पुस्तक दूसरी कोटि में आयगी। वातायन कुछ आधुनिक सा शब्द है। किन्तु इसका अर्थ वही है जो प्राचीन झरोके का था 'राम झरोके वैठिकें सबको मुजरा लेय, जैसी जाकी चाकरी तैसो ताकों देय।' आलोचक भी प्रायः ऐसे ही ऊँचे झरोके से झाँक कर साहित्यकारों और उनकी कृतियों का मूल्याङ्कन करता है। सच्चे आलोचक को दलबन्दी की कीचड़ से अलग रहने के लिए ऊँचा उठना ही पड़ता है। फिर भी आलोचक को कोई न कोई पक्ष लेना ही आवश्यक होता है। आलोचक के लिए भी नितान्त निष्पक्ष होना, उतना ही कठिन है जितना कि चिड़िया को बिना पंखों के उड़ना। सच्चे आलोचक की सफलता सपक्षता और निष्पक्षता के बीच का मार्ग खोज लेने में है। यह तो मैं नहीं कहता कि श्री शिवनन्दन प्रसाद जी ने उस मार्ग को खोज लिया है तथापि वे उस मार्ग के बहुत कुछ निकट होकर चले हैं।

प्रस्तुत संग्रह के लेख स्फुट अवश्य हैं, किन्तु उनमें काल-क्रम का ध्यान रक्खा गया है और यद्यपि उनमें दूसरे लेखकों का आश्रय लिया गया है तथापि वह अध्ययन और विवेचन के रूप में है, अनुकरण के रूप में नहीं। यदि अनु

करण है भी तो सजीव, सक्रिय और विचारपूर्ण जिसमें विचार की स्वतन्त्रता की झलक स्थान-स्थान पर मिलती है। लेखक ने विद्यापति को भक्त कवियों की श्रेणी में बैठाने का प्रयत्न कर अपनी स्वतंत्रता का परिचय दिया है। यद्यपि बहुत से लोगों ने तुलसीदास जी को समन्वयवादी कहा है और वे थे भी; तथापि कहने और निरूपण में बहुत अन्तर है। शायद उतना ही जितना कि अमरूद के बीज और पके अमरूद में। लेखक महोदय ने महादेवी वर्मा की काव्य साधना का विवेचन करते हुए उनमें रहस्यवाद के सभी प्रकार और श्रेणियों का वर्णन किया है। केवल साधनात्मक का नहीं जिसके वे पक्ष में नहीं हैं। रहस्यवाद के सम्बन्ध में कबीर, जायसी और मीरा की अपेक्षा वर्तमान रहस्यवाद को अधिक महत्व दिया जान पड़ता है। सगुण का तो वे रहस्यवाद स्वीकार ही नहीं करते। इसलिए मीरा को उन्होंने रहस्यवादियों की कोटि में नहीं रक्खा है। इसमें शायद आचार्य शुक्ल जी की छाया है। ईसाई रहस्यवाद भी बहुत कुछ सगुण ही है। वर्तमान रहस्यवादी पहले रहस्यवादियों की अपेक्षा कला में तो अधिक बढ़े हुए हैं। किन्तु मेरी समझ में उनकी अनुभूति इतनी तीव्र नहीं है जितनी कि कबीर और मीरा की।

लेखक का झुकाव प्रगतिवाद की ओर अवश्य है किन्तु उन्होंने उसकी एकाङ्गिता (मुक्तकंठ से तो नहीं) स्वीकार कर अपनी उदारता का परिचय दिया है। लेखक के निम्नोद्धृत वाक्य विशेष महत्व के हैं:—

यदि हंसिया हथौड़ा, वर्ग संघर्ष, कूड़ा कर्कट, भैंसा गाड़ी, ट्रेम कार आदि को ही प्रगतिशीलता का सार्टीफिकेट दिया जाय तो महान अनर्थ होगा। प्रगति किसी सिद्धान्त विशेष का अन्धानुवर्तन में नहीं, किसी राजनीतिक विचार धारा के

अनुगमन में नहीं, वरन सामाजिक जीवन के वास्तविक निरीक्षण उसकी समस्याओं के विश्लेषण और गतिशील चित्रण में है।' साहित्य को हम राजनीतिक अनुचर नहीं बना सकते और न हम उसी मनोवृत्ति के कायल हैं जो पाश्चात्य देशों से आने वाले सभी वादों को आदर्श मान हिन्दी में भी उसी की दुहाई देते हैं।' आशा है कि लेखक के ये वाक्य प्रगतिशील विचार धारा की एकाङ्गिता दूर करने में सहायक होंगे।

प्रस्तुत संग्रह के लेख साधारण पाठकों तथा विद्यार्थियों दोनों के लिए रुचिकर और उपयोगी सिद्ध होंगे क्योंकि लेखक की शैली में पाण्डित्य की निर्भीकता के साथ पर्याप्त सरसता है।

आगरा-देहली दरवाजा
श्रावण कृष्णा १४
२००२

गुलाबराय



प्राक्कथन

मेरे ये आलोचनात्मक निबन्ध समय-समय पर हिन्दी साहित्य-सम्बन्धी मेरे बिखरे विचारों के संकलन मात्र हैं। इनके सम्बन्ध में साहित्येतिहास के क्रमबद्ध अध्ययन अथवा मौलिक अनुसन्धान का दावा मैं नहीं करता। विद्यार्थी समाज के लाभ और हित को दृष्टि में रखकर ये निबन्ध अवश्य लिखे गए हैं और यदि विद्यार्थियों को हिन्दी साहित्य के अध्ययन में इन निबन्धों से कुछ भी सहायता मिली तो मैं अपने परिश्रम को सफल मानूँगा।

इन निबन्धों के लिखने में मैंने प्रस्तुत सामग्रियों से भरपूर लाभ उठाया है और मैं उन सभी लेखकों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनकी अमूल्य रचनाओं से मुझे सहायता मिली है। सब से अधिक, पूज्य आचार्यद्वय डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री एम० ए० पी-एच० डी०, तथा प्रो० विश्वनाथप्रसाद, एम० ए०, बी० एल०, साहित्य-रत्न, साहित्याचार्य के प्रति मैं अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक अपनी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ, जिनकी प्रेरणा, पथ-निर्देश और अतुलित स्नेह पुस्तक की पंक्ति-पंक्ति में अव्यक्त रूप से स्थित है।

मैं 'साहित्य-सन्देश' के यशस्वी सम्पादक के प्रति भी कम आभारी नहीं हूँ जिन्होंने मेरे अधिकांश निबन्धों को प्रकाशित करने की कृपा की थी तथा साहित्य रत्न भण्डार के योग्य व्यवस्थापकों का भी अत्यन्त अनुगृहीत हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में मेरी सुविधाओं का ध्यान सदा रखा है।

अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
गया कालेज, गया
७-५-४५

विनीत—
शिवनन्दन प्रसाद
(एम. ए., साहित्यरत्न)

विषय-सूची

क्रम सं०　　　　विषय

अपभ्रंश और उसकी परम्परा

[मध्यकालीन आर्य-भाषा काल में अपभ्रंश का स्थान और आधुनिक आर्य-भाषाओं से इसका सम्बन्ध]

भाषा जीवन को व्यक्त करने का एक साधन है; अतः किसी देश या जाति की भाषा का उस देश या जाति के सामाजिक जीवन से सीधा सम्बन्ध है। जीवन सतत प्रवाहमान है, काल की गति के साथ वह विकसित-परिवर्त्तित होता है। फलस्वरूप भाषा की रूपरेखा भी स्थिर नहीं रहती। उसमें भी सतत परिवर्त्तन होता ही रहता है। भाषा की धारा भी विकास की ओर सदा अवाध गति से बहती रहती है।

साहित्य में प्रयुक्त होने पर व्याकरण के स्पर्श से यही गतिशील भाषा कठिन नियमों से आवद्ध होकर स्थिर हो जाती है। पर जातीय जीवन का प्रवाह नहीं रुक सकता। अतः उसे व्यक्त करने वाली जनता की भाषा भी परिवर्त्तित होती ही रहती है। फल यह होता है कि उस समय भाषा के दो रूप हो जाते हैं, एक वह जो व्याकरण-बद्ध, परिष्कृत और साहित्य में एवं शिष्ट-मण्डली में प्रयुक्त होता है, और दूसरा वह जो व्याकरण-मुक्त, प्रवाहमान और जनता के बीच प्रचलित होता है।

अपभ्रंश से हम ५०० ई० से १००० ई० तक बोली जाने वाली मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा-काल की जनता की एक ऐसी ही भाषा का रूप समझते हैं। साहित्य में प्रयुक्त होने पर प्राकृत की गति अवरुद्ध हो गई। उसके नियम कठिन हो गए। अतः सर्वसाधारण उस परिष्कृत भाषा को अपनाए नहीं रह सके। जनता की बोलियों को किन्हीं भी नियमों द्वारा

आबद्ध नहीं किया जा सकता था। "अतः 'लोगों की ये बोलियाँ विकास को प्राप्त होती गईं। व्याकरण के नियमों के अनुकूल मँजी और बँधी हुई साहित्यिक प्राकृतों के सम्मुख वैयाकरणों ने लोगों की इन नवीन बोलियों को 'अपभ्रंश' अर्थात् 'बिगड़ी हुई भाषा' नाम दिया। भाषा-तत्व वेत्ताओं की दृष्टि में इसका वास्तविक अर्थ 'विकास को प्राप्त हुई' भाषाएँ होगा।" [हि० भा० का इ०—धी० व० पृ० ४७]।

अपभ्रंश भाषाएँ मध्यकालीन आर्य-भाषाकाल की अन्तिम अवस्था की द्योतक हैं। इसके पश्चात् ही आधुनिक आर्य-भाषाओं का, जिनमें हिन्दी भी एक भाषा है—जन्म होता है। वर्तमान हिन्दी का, और अपभ्रंश का भी, सम्बन्ध प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं से है। आधुनिक हिन्दी भी वैदिक भाषा में शताब्दियों के परिवर्तन का ही प्रतिफलन है।

ऋग्वेद की ही भाषा को विदेशी भाषाओं के 'असंस्कृत' शब्दों के प्रभाव से बचाने के लिए लोगों ने उसे व्याकरण के कठिन नियमों से बाँध दिया और उसे 'संस्कृत' नाम दिया। "पाणिनि (३०० ई० पू०) ने उसे ऐसा जकड़ा कि उसमें परिवर्तन होना बिलकुल रुक गया।······इस साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त जनता की बोल-चाल की भाषा में परिवर्तन होता रहा।" वही परिवर्तित रूप पाली के नाम से प्रसिद्ध हुआ। (५०० ई० पू०—१ ई० पू०) उत्तर भारत की भाषा के इस समय कम से कम तीन रूप वर्तमान थे—पूर्वी, पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरी। पाली भी साहित्य में प्रयुक्त होने लगी। साहित्यिक पाली कदाचित् अर्द्धमागधी क्षेत्र के प्राचीन बोली के आधार पर बनी थी। इनके रूप हमें अशोक की धर्मलिपियों और बौद्ध और जैन धर्मग्रन्थों में मिलते हैं। पाली में भी साहित्यिक गाम्भीर्य आने पर और उसका रूप भी नियमों द्वारा आबद्ध

होने पर जनता की बोली कुछ काल के अनन्तर इससे भिन्न हो गई। फलतः हम प्राकृत के विभिन्न रूपों को देखते हैं। "प्राकृत के इस विकास को तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्राचीन (Primary) मध्य कालीन (Sacondary) और उत्तर कालीन (Tertiary) प्राकृत उसके नाम हैं। (१ ई०) इसे साहित्यिक प्राकृत भी कहा गया है।" [रा० कु० व०—हि० सा० का आ० इ० पृ० ३६]।

पाली मध्य कालीन भारतीय आर्य-भाषा-काल की प्रथम अवस्था की भाषा थी। उस समय भी, जैसा कहा जा चुका है, जनता की बोलियों के तीन भेद वर्तमान थे। यह भेद मध्य-कालीन आर्यभाषा-काल की द्वितीय अवस्था की भाषा प्राकृत के सम्बन्ध में भी परिलक्षित हुआ।

प्राकृत-काल में प्राकृत के चार भेद मुख्य थे—शौरसेनी (शूरसेन प्रदेश में बोली जाने वाली), मागधी (मगध अर्थात् दक्षिण विहार में बोली जाने वाली), अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री। शायद महाराष्ट्री इनमें मुख्य थी। यह बरार और उसके समीपवर्ती प्रदेश में बोली जाती थी। नाटक में साधारणतया स्त्रियों और विदूषक की भाषा शौरसेनी होती थी। कर्पूर मञ्जरी में स्वयं राजा भी इसका प्रयोग करता है। इन प्राकृतों के "अतिरिक्त वररुचि और हेमचन्द्र एक और प्राकृत का वर्णन करते हैं, जो पश्चिमोत्तर प्रदेश में बोली जाती थी। इसका नाम पैशाची है।" [रा० कु० व०—आ० इ० पृ० ४०]।

प्राकृत में जब साहित्य-सृजन का कार्य होने लगा तब स्वभावतः वह भाषा व्याकरण के कठिन नियमों में आबद्ध हो गई। अतः जनसाधारण की बोलियों में परिवर्तन के कारण प्राकृत के साहित्यिक रूप से अन्तर पड़ना आरम्भ हुआ। "वैयाकरणों ने अपने साहित्यिक प्राकृत की तुलना में इन्हें 'अपभ्रंश' का नाम

दिया, जिसका अर्थ है 'भ्रष्ट हुई'। ईसा की तीसरी शताब्दी में अपभ्रंश आभीर आदि निम्न जातियों को भाषा का नाम था, जो सिंध और उत्तरी पंजाब में बोली जाती थी। ""बोलने वाले अधिकतर विदेशी थे जो हूणों के समुदाय में थे। ......इन विदेशियों में आभीरीनामक (V.A. Smith—Early History of India, page 242) एक समुदाय था जिसने सिन्ध पर विजय प्राप्त की, बाद में गुजरात और राजपूताना भी इनके अधिकार में चला आया। सातवीं शताब्दी में इन लोगों का अधिकार पाँचाल तक हो गया। फलस्वरूप इन लोगों की भाषा जो अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध है, राजभाषा हुई और उसका प्रचार इनके विजित प्रदेश में ही नहीं वरन उसके बाहर भी स्थान विशेष की भाषा के आधर पर होने लगा।"—[रा० कु० वर्मा: आ० इ० पृ० ४०-४१]

अपभ्रंश भाषा का काल ५००-१००० ई० तक माना जाना चाहिए। १००० ई० में वह अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था। फिर भी कुछ प्राकृत के उपासक इसे हीन दृष्टि से देखते ही थे। स्मरण रखना चाहिए कि प्राकृत के साहित्यिक कारागार से निकलने का प्रयत्न करने के ही कारण इसे हीन दृष्टि से देखते हुए प्राकृत के पंडितों ने इसे 'अपभ्रंश' नाम दिया था।

इस काल में अपभ्रंश के कई भेद हुए। प्रत्येक प्राकृत के अनुसार अपभ्रंश का एक-एक भेद हुआ; जैसे शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत से महाराष्ट्री अपभ्रंश, अर्द्ध मागधी प्राकृत से अर्द्ध मागधी अपभ्रंश, और मागधी प्राकृत से मागधी अपभ्रंश। मार्कण्डेय अपने प्राकृत-सर्वस्व में अनेक अन्य अपभ्रंशों का निर्देश करते हैं। किसी अज्ञात लेखक के मतानुसार वे २७ अपभ्रंश बतलाते हैं। पर स्वयं उनके मत में केवल तीन अपभ्रंश हैं—नागर, व्राचड़ और उपनागर।

अन्य अपभ्रंशों में अत्यधिक सादृश्य होने के कारण वे उसे भिन्न भाषाएँ मानते ही नहीं।

"अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ्मताः।"

२७ अपभ्रंशों का निर्देश करते हुए उन्होंने पाराड्य, कालिङ्ग्य, कारणार, काञ्च्य, द्राविड़ आदि का भी उल्लेख किया है।

अपभ्रंशों में नागर अपभ्रंश का स्थान 'सर्वाधिक महत्त्व का है। यह गुजरात की भाषा थी। गुजरात के पण्डित नागर पंडित कहे जाते थे। सुविख्यात जैन आचार्य्य हेमचन्द्र ने इसी नागर अपभ्रंश में अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया। हेमचन्द्र की रचना संस्कृत से प्रभावित इसलिये है क्योंकि नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत ही था, जिसका जन्म मध्य देश में होने के कारण वह संस्कृत के प्रभाव से वञ्चित नहीं रह सकती थी।

व्राचड़ सिंध में बोली जाती थी। उपनागर का क्षेत्र गुजरात और सिंध के बीच का प्रदेश अर्थात् राजस्थान और दक्षिण पञ्जाब था। अपभ्रंश के विषय में हमारी जानकारी का मुख्य आधार हेमचन्द्र है। उसने नागर का ही विशेषतया वर्णन किया है। कहा जाता है उस समय कोई केकय अपभ्रंश भी था।

श्री रामकुमार वर्मा कहते हैं, "जब प्राकृत साहित्य की शृङ्खला में मृत भाषा मानी जाने लगी तो अपभ्रंश में साहित्य-निर्माण होना आरम्भ हुआ। छठी शताब्दी में अपभ्रंश का स्वर्णकाल प्रारम्भ हुआ, जब उसमें उच्च साहित्य की रचना होनी प्रारम्भ हुई।.........दशमी शताब्दी के बाद अपभ्रंश को भी 'साहित्य-भरण' के लिए बाध्य होना पड़ा और उसने अनेक शाखाओं में विभाजित होकर नवीन नाम धारण किए। फलतः हिन्दी आदि भाषाओं का सूत्रपात हुआ।" (आ० इ० पृ० ४३)

हम देखते हैं कि हमारी भाषाएं विकृतावस्था (inflectional) अथवा संयोगावस्था से विकसित होकर वियोगावस्था

(analytic) में आई हैं। हिन्दी आदि अपभ्रंश से निकली हुई भाषाएं वियोगावस्था की हैं।

अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ, जो आजकल भारत के भिन्न-भिन्न भागों में बोली जाती हैं। इस प्रकार अपभ्रंश भाषाएँ आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-काल की भाषाओं की जननी हैं। क्योंकि उन्हीं ने इनको जन्म दिया।

शौरसेनी अपभ्रंश से पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पञ्जाबी और पहाड़ी भाषाएँ, मागधी से बिहारी, बंगाली, आसामी और उड़िया भाषाएँ, त्राचड़ से सिन्धी, अर्द्धमागधी से पूर्वी हिन्दी, महाराष्ट्री से मराठी और केकय अपभ्रंश से लहंदा का जन्म हुआ। ये भेद साथ दिये गए मानचित्र (Chart) से स्पष्ट हो जायगा।

अपभ्रंश के 'जड़' हो जाने का समय ठीक-ठीक निर्धारित करना सम्भव नहीं। पर अनुमान है कि १००० ई० के बाद ही आधुनिक आर्यभाषायें अपभ्रंशों का स्थान लेने लगीं होंगी। क्योंकि हिन्दी-साहित्य का आरम्भ भी उसके कुछ ही समय बाद से माना जाता है।

डिंगल साहित्य और पृथ्वीराज रासो

"वीरों के आख्यान इतिहास के उल्लास हैं।" इनसे राष्ट्रीय अभ्युत्थान को प्रगति मिलती है, देश के पतित समाज को अवलम्ब, आशा एवं मार्ग-निर्देश ! सभी दृष्टि से इनका महत्त्व अपरिमेय है, ये किसी भी राष्ट्र के प्राण हैं, किसी भी भाषा की अमूल्य निधि साहित्य का गौरव हैं।

हिन्दी साहित्य का प्राथमिक काल भी अन्य जीवित साहित्यों की भांति वीर-रस प्रधान रहा है। अपभ्रंश अवस्था से सद्यः प्रसूत हिन्दी में वीरों की तलवारों की झनझनाहट अधिक थी, नूपुरों की झनकार कम। राजस्थान की राजनैतिक अशान्ति और विप्लव के फलस्वरूप वहां के चारण तथा भाट गण अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीर रस प्रधान काव्य की धारा बहाने लगे। राजस्थान की वह असंस्कृत भाषा 'डिंगल' कहलाई जिसमें वीर-रसात्मक काव्य-रचना के कारण परुषता विशेष रूप से थी और परिमार्जन एवं व्याकरण तथा छन्दःशास्त्र के अनुशासन का अभाव था। शायद उसे मध्यदेश की भाषा 'पिंगल' से उपहास के हेतु जोड़ा मिलाने के लिए जिसमें अपेक्षाकृत व्याकरण और छन्दःशास्त्र का अधिक नियंत्रण था, 'डिंगल' कहा गया हो। कुछ लोगों का मत है कि ऊबड़-खाबड़ और असंस्कृत पदावली के कारण डमरू की ध्वनि ने उस भाषा की समता ही उसके 'डिंगल' नामकरण का कारण है। जो हो, डिंगल ने हिन्दी की काव्यलता को वीर-रसामृत से सिंचित कर उसके उत्तरोत्तर विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

डिंगल साहित्य में आज हम जिसे सर्वप्रधान ग्रंथ कहते हैं, वह है, पृथ्वीराज रासो। उसका डिंगल-साहित्य में क्या स्थान है, उसका हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में क्या मूल्य है, यह समझने के लिये प्रथमतः यह आवश्यक है कि हम डिंगल-साहित्य के अन्य उपलब्ध ग्रन्थों की ओर भी दृष्टि फेरें। द्वितीय यह कि डिंगल-साहित्य कहाँ तक प्रामाणिक और ऐतिहासिक है, इस पर विचार करें।

पृथ्वीराज रासो के रचयिता चन्द बरदाई के पूर्व के कवियों में सर्व प्रथम पुण्ड कहे जाते हैं, जिनका समय ७७०' वि० माना

गया है। पर इनके ग्रन्थ का निश्चय नहीं। उसके पश्चात् का एक ग्रन्थ खुमान रासो मिलता है जिसमें चित्तौराधिपति रावल खुमान द्वितीय का वृत्तान्त है। इसके कवि दलपत विजय कहे जाते हैं। इसका आधार इतिहास है अवश्य, क्योंकि खुमान द्वितीय ऐतिहासिक व्यक्ति है। (दे० Todd's annals of Rajasthan), पर परिवर्ती कवियों द्वारा इसका रूप इतना परिवर्त्तित हो गया है कि ८०० वर्षों के सतत परिमार्जन के फलस्वरूप यह अपनी असली हालत में नहीं है। बारहवीं सदी में, मसूद, कुतुबअली, साइदान आदि के नाम भी आते हैं। भुवाल कवि भी चन्द के पूर्व, १० वीं सदी में ही हुए। पर दलपत विजय के पश्चात् महत्त्व का कवि नरपति नाल्ह ही हुआ, क्योंकि मोहनलाल द्विज का काल भी संशय-ग्रस्त है। नरपति नाल्ह के पूर्व के सभी कविगण अनिश्चित हैं, क्योंकि न तो उनके समय का ही निश्चय है, न उनके रचित ग्रन्थों की प्रामाणिकता का ही। प्रथम निश्चित कवि ये ही हैं। इनका वीसलदेव रासो गीतात्मक है यद्यपि उसमें प्रबन्धात्मकता की छाया अवश्य है। गौ० ही० ओझा के अनुसार वीसलदेव का समय १०३० से १०५६ वि० माना गया है। ग्रन्थरचनाकाल के सम्बन्ध में मतभेद है—मिश्रबन्धु सं० १२२० और रा० च० शु० सं० १२१२ बतलाते हैं। अतः ग्रन्थ वीसलदेव के समसामयिक कवि की रचना न होकर डेढ़ सौ वर्ष बाद रचा गया सिद्ध होता है। ग्रन्थ का विस्तार दो सौ चारणों में है। इसमें चार खण्ड हैं। प्रथम में मालवा के अधिपति भोज परमार की लड़की से वीसलदेव का विवाह, द्वितीय में वीसलदेव की उड़ीसा-यात्रा, तृतीय में राजमती का वियोग-वर्णन और वीसलदेव का उड़ीसा से लौटना, चतुर्थ में भोजराज द्वारा राजमती का ले जाया जाना और वीसलदेव का पुनः इसे ले आना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि

ग्रन्थ में वीर रस के साथ-साथ शृङ्गार रस की भी बहुलता है। वीर-रस के अञ्चल में छिपी शृङ्गारिकता वीर-काव्य के प्रथम उत्थान काल की विशेषता ही है। वीसलदेव रासो निश्चित ग्रन्थ था तो अवश्य पर इसमें प्रबन्धात्मकता की छायामात्र थी प्रधानतः यह गीतिमय था। प्रथम, पूर्णरूपेण प्रबन्धात्मक ग्रन्थ लिखने का श्रेय चन्द बरदाई ही को है, जिसने पृथ्वीराज रासो में शृङ्खलाबद्ध रूप से पृथ्वीराज चौहान की कीर्त्ति-गाथा दस समयो (अध्यायों) में गाई। रासो में काव्य की अनेक रीतियाँ उसके रचयिता की विद्वत्ता की परिचायिका हैं। इसकी काया भी दस हजार से अधिक पृष्ठों की है। रासो की सात प्रतियाँ प्राप्त हैं जिनमें पाँच को विद्वानों ने प्रामाणिक माना है।

पर ग्रन्थ स्वयं प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक है अथवा नहीं इस विषय पर विद्वानों में मतभेद हैं। उन विभिन्न मतों के सम्यक् विवेचन के पूर्व हम यह देख लें कि यह ग्रन्थ, जिस रूप में हमें उपलब्ध है, कैसा है। इसकी कथा वस्तु का सारांश यह है—

प्रथम में यज्ञ द्वारा अग्नि से राजपूतों के चार वंशों की उत्पत्ति की कथा है। फिर लिखा है कि पृथ्वीराज अजमेर के सोमेश्वर के पुत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तोमर राजा अनङ्गपाल की पुत्री कमला से हुआ था। राजा अनङ्गपाल की दो कन्याएँ थीं, कमला और सुन्दरी। सुन्दरी का विवाह विजयपाल से हुआ जिसका पुत्र जयचन्द हुआ। अनङ्गपाल ने पृथ्वीराज को गोद ले लिया; अतः अजमेर और दिल्ली का राज्य एक हो गया। इससे जयचन्द पृथ्वीराज से जलने लगा। उसने राजसूय यज्ञ किया जिसके साथ संयोगिता का स्वयंवर भी हुआ। सभी राजाओं के साथ पृथ्वीराज को भी आमंत्रित किया गया, पर वह न आया। चिढ़कर जयचन्द ने उसकी एक मूर्त्ति बनवा द्वारपाल के रूप में रखा। पर

संयोगिता ने स्वयंवर में उसे ही जयमाला पहराई। इस
जयचन्द क्रुद्ध हुआ और उसे गङ्गातट पर एक महल में भे
दिया। पृथ्वीराज यह सुनकर संयोगिता को हर ले गया। मा
में जयचन्द की सेनाओं से भीषण मारकाट का वर्णन है।

कुछ दिन भोग-विलास में बीते। पुनः शहाबुद्दीन की चढ़ाइ
हुई और उसका बार-बार पराजय हुआ। अन्त में पृथ्वीरा
पकड़ कर गजनी भेज दिये गए। चन्द भी गजनी गए जहां उन
इशारे पर पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को शब्दवेधी बाण द्वारा म
डाला। फिर वे एक दूसरे को मार कर मर गए।

कथानक से भी यह सिद्ध होता है कि चन्द ने ग्रंथ पूरा न
किया होगा। अंतिम दस समयों की पूर्ति जल्हण द्वारा हुः
कथानक से यह भी पता लगता है कि ग्रंथ पृथ्वीराज के स
सामयिक किसी कवि की रचना है जो उनके दरबार में रहते थे

पर कुछ विद्वानों ने इस बात पर सन्देह किया है और रा
को एक किसी परवर्ती कवि का सम्भवतः १६ वीं सदी में लि
हुआ एक जाली ग्रंथ माना है। इसे अप्रामाणिक व एवं अनै
हासिक मानने वालों में से रा० च० रा०, श० कु० व०, गौ० ह
ओझा और डॉ० बुलर मुख्य हैं। श्या० सु० दा० और मि० ब
इसे प्रामाणिक माना है।

इसकी अप्रामाणिकता का प्रथम कारण, कहा जाता है
है कि इसमें वर्णित वृत्तान्तों का और इसमें दिए संवतों का ऐ
हासिक तथ्यों के साथ बिल्कुल मेल न खाना इसके जाली
होने की सूचना देता है। चन्द ने पृथ्वीराज का जन्म-क
१११५, दिल्ली गोद जाना ११२२ में, कन्नौज जाना ११५१
नागार्जुन के साथ युद्ध ११५८ में लिखा है। पर शिलालेखों व
दान-पत्रों में दिए गए संवतों के साथ, जो वस्तुतः अधिक वि
श्वसनीय हैं, रासो में दिये गये संवत मेल नहीं खाते। शिला ले

आदि के सवतों से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है उसकी सम्यक् पुष्टि फ़ारसी तवारीखों से भी हो जाती है। अतः रासो में दिए गए संवत् अप्रामाणिक और ग़लत ठहरते हैं। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने रासो की प्रामाणिकता का समर्थन करते हुए इस बात पर ध्यान दिलाया है कि रासो के सब संवतों में यथार्थ संवतों से ९०-९१ वर्ष का अन्तर एक नियम से पड़ता है। इस धारणा की पुष्टि निम्नलिखित दोहे से की गई है—

एकादस सै पञ्चदह

विक्रम साक अनन्द। (आदि)

उसमें अनन्द का अर्थ उन्होंने किया—अ = शून्य और नन्द = ९, अर्थात ९० रहित विक्रम संवत! "नन्दवंशी शूद्र थे, इस कारण उनका राजत्वकाल राजपूत भाटों ने हटा दिया। उनकी यह विलक्षण कल्पना" अनुपयुक्त है। क्योंकि ऐसी प्रथा प्रचलित नहीं थी। और, इसके सिवा, रासो में चंगेज़, तैमूर आदि कुछ पीछे के नाम भी आते हैं, जिसके कारण, गौ० ही० ओझा तो इसे "भाटों की कल्पना" मात्र मानते हैं।

इतिहास-विरुद्ध कल्पित घटनाएँ भी भरी पड़ी हैं। यह बात पृथ्वीराज की राजसभा के कश्मीरी कवि जयानक के संस्कृत ग्रंथ पृथ्वीराज विजय के प्रकाश में और भी परिपुष्ट और सिद्ध होता है। उसमें दिए हुए संवत एवं घटनाएँ ऐतिहासिक खोज के अनुसार ठीक ठहरती हैं। "उसमें पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी लिखा है जिसका समर्थन हाँसी के शिलालेख से भी होता है। उक्त ग्रंथ अत्यन्त प्रामाणिक और सम सामयिक रचना है। उसके तथा हम्मीर महाकाव्य आदि कई प्रामाणिक ग्रन्थों के अनुसार सोमेश्वर का दिल्ली राजा अनंगपाल की पुत्री से विवाह, पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना, राणा

समरसिंह का पृथ्वीराज का समकालीन होना और उनके पक्ष में लड़ना, संयोगिता हरण इत्यादि बातें असंगत सिद्ध होती हैं।"
"इसी प्रकार आबू के यज्ञ से चौहान आदि चार अग्निकुलों की प्रथा भी शिलालेखों के जाँच करने पर कल्पित ठहरती है।"

इन बातों के अतिरिक्त पृथ्वीराज विजय से यह भी ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज की सभा में चन्द नाम का कोई कवि था ही नहीं, क्योंकि उस ग्रंथ में जयचन्द ने पृथ्वीराज के मुख्य भाट का नाम पृथ्वीभट्ट बताया है। चन्द बरदाइ का कहीं भी उल्लेख तक नहीं है। सच तो यह है कि चन्द ने भी उस ग्रंथ को पूरा न किया वरन् उसके पुत्र जल्हण ने उसे पूर्ण किया तथा उसके पश्चात् भी अनेकानेक परवर्ती कवियों ने उसमें जोड़-तोड़ की। यह बात उसकी भाषा की अनेकावयवता से भी लक्षित होती है, क्योंकि उसमें एक ही शब्द के विभिन्न समय में प्रयुक्त विभिन्न रूपों का व्यवहार बहुत है। वह अनेक व्यक्तियों के स्पर्श और उनके द्वारा परिवर्त्तन का परिचायक है। अरबी फ़ारसी का बाहुल्य तो यह सूचित करता है कि रासो बहुत पीछे की रचना है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, "भाषा की कसौटी पर ग्रन्थ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है। क्योंकि वह बिलकुल बेठिकाने है। कहीं कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत प्राकृत की नकल की हो। इस दशा में भाटों के इस वाग्जाल के बीच कितना अंश असली है इसका निर्णय असम्भव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है।"

पर बाबू श्यामसुन्दरदास इसे प्रामाणिक बतलाते हुए निम्नलिखित युक्तियाँ पेश करते हैं—

१—इतिहास की भ्रान्तियों का कारण यह है कि चन्द अपने स्वामी का अतिशयोक्तिपूर्ण गुण-वर्णन करना चाहते थे जो कवि के लिए सर्वथा स्वाभाविक है।

२—जो भ्रान्तियाँ मालूम पड़ती हैं, वे वास्तव में भ्रातियाँ है ही नहीं।

३—यदि कहीं भ्रान्तियाँ हैं भी तो क्षेपकों के कारण।

मि० ब० रासो के पक्ष समर्थन के हेतु कहते हैं—

१—रासो में किसी ऐसे संवत् का व्यवहार है जो वि० से ६० वर्ष पीछे का था।

२—उर्दू-फ़ारसी का बाहुल्य प्रक्षिप्त अंशों के फलस्वरूप हुआ।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसके उत्तर में कहा है कि "कवि को कल्पना के बहाने ऐतिहासिक घटनाओं में मनचाहा परिवर्त्तन करने का अधिकार नहीं है और क्षेपक इतने अधिक हैं कि असल और नक़ल में विभेद करना कठिन हो गया है।"

रा० कु० व० का भी यही विचार है कि "इतिहास में अतिशयोक्ति के लिए स्थान नहीं है।" वे इसकी अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये कहते हैं—कि तिथियों की अशुद्धता तो इतिहास के द्वारा भी प्रमाणित हो गई है। तथा अरबी-फ़ारसी का प्रयोग यत्र-तत्र ही नहीं, वरन् सर्वत्र समान रूप से है। अतः ये क्षेपक के ही कारण नहीं हो सकते। और "भाषा की विभिन्नकालीन विषमता तो रासो की प्रामाणिकता को सबसे अधिक नष्ट करती है।" एक ही छन्द में शब्दों की विविध रूपावली के दर्शन होते हैं। वर्माजी के ही शब्दों में, "आज तक की सामग्री के सहारे रासो को प्रामाणिक (और ऐतिहासिक) ग्रन्थ कहना इतिहास और साहित्य के आदर्शों की उपेक्षा करना है।"

इस प्रकार रासो की अप्रामाणिकता के ही अधिक प्रमाण हमें मिलते हैं। फिर भी डिंगल साहित्य की वह एक निधि है, क्योंकि चन्द के कथित समय के पश्चात् भी उस जोड़ का ग्रन्थ डिंगल-भाषा में नहीं रचा गया। क्योंकि, यद्यपि भट्ट केदार ने भी जयचन्द का गुण गाया है, जयचन्द-प्रकाश नामक एक महाकाव्य में; 'जय मयंक जस चन्द्रिका' नामक एक बड़ा ग्रन्थ मधुकर कवि ने भी लिखा है, तथापि ये रासो की समता थोड़े ही कर सकते हैं।

इसके पश्चात जगनिक ने आल्हा और ऊदल के वीर-चरित्र का वर्णन वीर-गीतों में किया जिसका प्रचार जनता में खूब हुआ। आज भी उन्हीं गीतों के आधार पर लिखे गीत, गांवों में मेघ-गर्जन के बीच सुनाई देते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

बारह बरिस लै कूकर जीए
औ तेरह लै जिये सियार।
बरिस अठारह छत्री जीए
आगे जीवन को धिकार॥

हृदय फड़काने वाली पंक्तियाँ हैं! पर ये पृथ्वीराज रासो का स्थान नहीं ले सकतीं। रासो की अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाने से प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य के वैभव की बड़ी क्षति है। पर किया क्या जाय? जो सत्य है उसे प्रकाश में लाना ही होगा।

विद्यापति की काव्य-धारा

[illegible] के [illegible] से
[illegible] कहाँ,
[illegible]
[illegible] कहाँ! —'दिनकर'

भारत के इस पतन के युग में चाहे वैशाली के खंडहर यह न बता सकें कि हमारे राष्ट्रीय गौरव का आदित्य क्यों अस्त हो गया, चाहे लिच्छवियों की कीर्ति-पताका आज हिमगिर के उत्तुङ्ग शिखर पर न फहराती हो, पर उदास गंडकी के तीर पर मिथिला की अमराइयों में माधुर्य और संगीत का प्रवाह लिए विद्यापति के गीत आज भी गूंज रहे हैं ! राजनीतिक रूप से हम पराधीन और निस्त्वत्व भले हों, पर सांस्कृतिक दृष्टि से हम आज भी वैभवशाली हैं। सूर और तुलसी की अमर रचनाओं के साथ ही साथ विद्यापति की पदावली आज भी हमारी संस्कृति को पोषण देकर अनुप्राणित कर रही है।

विद्यापति हमारे हैं, हिन्दी संसार के हैं। इसमें आज हमें गौरव हो रहा है। गौरव इसलिए भी कि बहुत परिश्रम के बाद, वर्षों के अनुसन्धान के बाद वे हमें मिले हैं। और इसका श्रेय है श्री राजकृष्ण मुकर्जी और डा० ग्रियर्सन जैसे विद्वानों को। विद्यापति के जीवन, उनकी साहित्यिक कृतियाँ और कुछ बहिर्गत प्रमाणों के आधार पर ये इस निष्कर्ष पर अन्ततः पहुँचे हैं कि विद्यापति बङ्गाली कवि नहीं थे वरन् मैथिल थे और उनकी कविता की भाषा, जो अब तक बङ्गाली का एक रूप समझी जाती थी, वस्तुतः बङ्गाली न हो कर मैथिली है।

मैथिली, बङ्गाली का एक रूप नहीं है, वरन् बिहारी भाषा के अन्तर्गत गंगा के उत्तर में दरभंगा के आस-पास बोली जाने वाली एक 'बोली' है ! बिहारी भाषा भी मागध अपभ्रंश से उसी प्रकार निकली है जैसे बंगाली, आसामी और उड़िया। अतः यह पश्चिमी हिन्दी, जो शौरसेनी अपभ्रंश से निकली है, और पूर्वी हिन्दी जो अर्द्धमागधी अपभ्रंश से निसृत है, दोनों से उत्पत्ति की दृष्टि से भिन्न है ! धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में "यद्यपि राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बिहार का संबंध संयुक्त

प्रान्त से रहा है, किन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से यहाँ की भाषा बंगाली
की बहिन है।" धीरेन्द्रजी की उक्त बात की पुष्टि हिन्दी मैथिली
और बंगाली आदि के व्याकरण और उनकी प्रवृत्तियों पर ध्यान
देने से हो जाती है। हम देखते हैं हिन्दी सर्वथा वियोगात्मक
अवस्था (analytic stage) में है, पर बङ्गाली और मैथिली
दोनों ही अभी संयोगावस्था (agglutionative stage) की
भाषाएँ हैं। क्योंकि षष्ठी विभक्ति के लिए हम आज भी बँगला में
हिन्दी की भाँति 'राम का' न लिखकर 'रामेर' और मैथिली में
भी 'रामक' लिखते हैं। *

फिर भी विद्यापति को जो हम हिन्दी-कवियों की श्रेणी में
लाकर बिठाते हैं उसके कारण हैं। आरम्भ से ही बिहार का
सम्बन्ध संयुक्त प्रान्त से सांस्कृतिक रूप से रहा है। अतः भावों
के परस्पर आदान-प्रदान के कारण मैथिली और हिन्दी में
अनेक समानताएँ आ गई हैं। यह उनके वर्णविन्यास, शब्द-
शैली और वाक्य-रचना-प्रणाली तक में परिलक्षित है। इसीलिए
विद्यापति की पदावली को जितना आसानी से बंगाली समझ
सकते हैं उससे अधिक सुगमतापूर्वक हिन्दी भाषा-भाषी प्रांत के
लोग समझेंगे। और भी, मैथिली उस प्रान्त की भाषा है, जहाँ
हिन्दी ही साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है, बंगला नहीं।
बिहार प्रांत में शिक्षा का माध्यम भी तो हिन्दी ही है। अतः
विद्यापति की पदावली हिन्दी संसार की ही अमूल्य निधि है।
भावों की दृष्टि से उनका सम्बन्ध हिन्दी साहित्य की कृष्ण-
[illegible]-परम्परा से जुड़ता है। एक ओर दार्शनिक विचारों की
दृष्टि से जहाँ इन्होंने निम्बार्क के द्वैताद्वैत मत (सनकादि संप्र-
[illegible] रचनाओं का शृंगार [illegible]

* [illegible] [illegible] की रचनाओं [illegible] है।
[illegible] है। [illegible] है।

दाय) से प्रेरणा ली, वहाँ दूसरी ओर उनके काव्यगत कलात्मक आदर्शों की दृष्टि से ये जयदेव से अत्यन्त प्रभावित हुए। जयदेव की 'कोमल कान्त पदावली का प्रभाव इनके सुकुमार शृङ्गारिक पदों में स्पष्ट रूप से है। इनकी पदावली में पाण्डित्य और अर्थ-गम्भीरता नहीं, वरन् रामकुमार वर्मा के शब्दोंमें 'विद्यापति की पदावली संगीत के स्वरों में गूंजती हुई राधाकृष्ण के चरणों में समर्पित की गई है। उन्होंने प्रेम के साम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारों को अन्तर्हित कर दिया है।" उनकी कला को उनके जीवन की रूपरेखा ने भी प्रभावित किया है। अतः उनके जीवन की दो एक बातें भी देखें।

"विद्यापति एक विद्वान वंश के वंशज थे।" उनके पिता गणपति ठांकुर और पितामह जयदत्त संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। विद्यापति दरभंगा जिले के विसपी ग्रामके रहने वाले थे। यह गाँव उन्होंने अपने संरक्षक राजा शिवसिंह से उपहार स्वरूप पाया था। १४०० ई० में विद्यापति ने उक्त राजा से एक ताम्रपत्र और अभिनव जयदेव की उपाधि प्राप्त की। इनका प्रवेश सम्भवतः 'हरम' में भी था, क्योंकि इन्होंने शिवसिंह की स्त्री रानी लखिमादेई (लक्ष्मी देवी) का वर्णन भी अपने पदों में किया है।

ठाकुर उमेशमिश्र के अनुसार विद्यापति का जन्म-संवत् १४२५ और मृत्यु-संवत् १५३२ है।

रामकुमारजी लिखते हैं कि ये "अपने समय के बड़े सफल कवि थे और इन्हें अनेक उपाधियाँ भी मिली थीं। जैसे—

१—अभिनय जयदेव
२—दश विधान
३—राजपंडित
४—कंठहार
५—नव कवि शेखर,

शृङ्गार सम्बन्धी उनके पदों में राधाकृष्ण के प्रेम-मिलन की प्रधानता है। पदावली में आधिक्य इन्हीं का है। इन पदों के सम्बन्ध में रामकुमार वर्मा कहते हैं—"विद्यापति शैव थे, अतः उन्होंने शिव सम्बन्धी जो पद लिखे हैं वे तो अवश्य भक्ति से ओत-प्रोत हैं, किन्तु श्रीकृष्ण और राधा सम्बन्धी उन्होंने जो पद लिखे हैं, उनमें भक्ति न होकर वासना है। इस क्षेत्र में जयदेव की शृङ्गार-भावना ने विद्यापति को बहुत अधिक प्रभावित किया है।......विद्यापति की कविता में भौतिक प्रेम की छाया स्पष्ट है।" वे फिर कहते हैं—"वयः सन्धि, नखशिख, अभिसार, मान, विरह आदि से कवि की भावना इस प्रकार सम्बद्ध हो गई है मानो नायक-नायिका के कार्य-व्यापार कवि की वासना-मयी प्रवृत्ति के अनुसार हो रहे हैं।......उनके सामने राधा और कृष्ण अपना सिर झुका कर......कार्य करते हैं।...... इसके बीच में ईश्वरीय अनुभूति की भावना नहीं मिलती। एक ओर नवयुवक चंचल नायक है, दूसरी ओर यौवन और सौन्दर्य की सम्पत्ति लिए राधा।"

रामकुमारजी की उपर्युक्त उक्तियों में कहाँ तक तथ्य है इसका विचार करें। उनके मत में राधा और कृष्ण का यह प्रेम-चित्रण वासना-रञ्जित है, उद्दाम शृंगारिकता से पूर्ण है। पर वे भूलते हैं। हाँ, यह ठीक है, जैसा वह कहते हैं कि—"विद्यापति की कविता में शृंगार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है। भाव, आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों का दिग्दर्शन उनकी पदावली में सुन्दर रीति से मिल सकता है। स्थायी भाव रति भी आदि से अन्त तक है।" और यह उनकी विशेषता है, महानता है, उनकी कला की पूर्णता, उत्कृष्टता का ही परिचायक है! पर यह कहना कि यह शृङ्गार लौकिक, वासना-जन्य है, युक्ति-संगत नहीं। इसके कारण हैं। राधा

कृष्ण की अति भावना और हिन्दू हृदय की दैवी भावना के कारण जिसमें सदियों से राधा-कृष्ण के लिए आदर का स्थान रहा है, विद्यापति की शृंगार भावना में कुछ असाधारणता है। यद्यपि उन्होंने केलि आदि का वर्णन किया है, पर उसमें कुछ विशेषता है। हमारे हृदय की कुत्सित भावनाओं से उसका सम्बन्ध नहीं। विद्यापति का शृंगार आध्यात्मिकता की पुनीत अन्तर्धारा से अभिव्याप्त है।

प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के मतानुसार विद्यापति में हम "कृष्ण के शैशव और राधा के यौवन का विषम व्याघातात्मक समन्वय पाते हैं।" यह सामान्य शृंगारिक भावना में सम्भव नहीं। इस प्रकार का समन्वय हम कई स्थानों में सूरदास में भी पाते हैं, पर उन्हें तो हम वासना-जनित शृंगार-चित्रण की लाञ्छना नहीं लगाते। देखें—

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
ग्वालिन मन इच्छा करि पूरन
आपु भजे हरि ब्रज की खोरी।

× × ×

बाल रूप जसुमति मोहि जाने
गोपिन मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सों
ये मेरे ब्रज लोग॥

प्रथम पंक्ति में वात्सल्य, द्वितीय व तृतीय में शृंगार और अन्तिम में शान्ति रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। यह रसों की [illegible] कहीं [illegible] सम्भव है क्योंकि राधा और कृष्ण मानव नहीं हैं और उनके प्रेम में [illegible]ता है, अपार्थिवता है, [illegible] है। [illegible] भी कृष्ण गोपियों के [illegible] हैं!

रामकुमार वर्मा पुनः लिखते हैं, "विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्यदेव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्यभाव से जो उपासना की गई है उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है।" पर यह लिखने के पूर्व शायद वर्माजी ने विद्यापति के निम्नलिखित पदों के गम्भीर अर्थ की ओर ध्यान नहीं दिया है, नहीं तो उन्हें ज्ञात होता कि विद्यापति ने यह कभी भुला नहीं दिया कि कृष्ण हमारे आराध्यदेव हैं—भगवान हैं—

धनि धनि रमनि जनम धनि तोरि।
जिहि जग कान्हि कान्हि करि झूरै।
से तुअ भाव विभोर।

यहाँ उसी 'कान्ह' से तात्पर्य है जिसकी खोज में बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तिमिरमय कन्दराओं और बीहड़ वनों को झेलते आए हैं, और वही कृष्ण, राधा और गोपियों के भाव में विभोर हैं। क्या यह वासनामय प्रेम का प्रसाद हो सकता है? और भी,

एकहि नगर बस माधव रे,
जनि करवट मारि।
छाडु कन्हैया मोर आँचर रे,
फाटत नव सारि॥
हरिक—संग किछु डर नहिं रे,
तो हं परम गँवारि।

'हरिक' शब्द में शान्त रस के साथ ही साथ विष्णुभाव की व्यंजना है! इन पदों को देखते हुए कौन कह सकता है कि कृष्ण का चित्रण आराध्यदेव के रूप में नहीं है, और राधा का

प्रेम भौतिक, वासना-जन्य है ? इनमें हम भगवद्-भावना की एक पावन अन्तर्धारा प्रवहमान पाते हैं। अङ्गरेज़ी कवि बाइरन की भाँति विद्यापति का यह सिद्धान्त नहीं है—"The days of our youth are the days of our glory."

हाँ, यह बात अवश्य है कि सत्यं, शिवं और सुन्दरं में न केवल सुन्दरं की विशेषता वरन् सुन्दरं का अति चित्रण भी हुआ है ! सुन्दरं की यह अतिरंजित भावना क्षण भर के लिए विद्यापति की आध्यात्मिकता को ढक भले ही ले, पर ईशभावना का चिरन्तन श्रोत अन्तःसलिला फल्गू की भाँति अप्रकट रूप में भी बहती ही है ।

सौन्दर्य के इस अति चित्रण का प्रभाव हुआ उनकी कविता में कलापक्ष का उत्कर्ष ! रामकुमारजी भी इस दिशा में उनका लोहा मानने को तैयार हैं। उन्हीं के शब्दों में "विद्यापति का संसार ही दूसरा है। वहाँ सदैव कोकिलाएँ ही कूजन करती हैं । फूल खिला करते हैं, पर उनमें काँटे नहीं होते । राधा रात भर जागा करती है । उसके नेत्रों में ही रात समा जाती है। शरीर में सौन्दर्य्य के सिवाय कुछ भी नहीं है । पथ है, उसमें भी गुलाब है; शैया है, उसमें भी गुलाब है, शरीर है, उसमें भी गुलाब । सारा संसार ही गुलाब-मय है ।" राधा का रूप ऐसा है मानों "सुनहले स्वप्न मनुष्य के रूप में अवतरित हुए हैं । जहाँ उसके पैर पड़ते हैं, वहाँ कमल खिल उठते हैं । उसकी चितवन में कामदेव के बाण हैं, पाँच नहीं, वरन् सभी दिशाओं में छूटे हुए सहस्र बाण !"

सद्यः स्नाता के वर्णन में विद्यापति ने कमाल कर दिया—

कामिनि करै सनाके ।
हेरतहि हृदय हनए पंचबाने ।
चिकुर गरै जलधारा,
जनि मुख ससि डर रोय अंधारा ॥

वे काव्य शास्त्र-मर्मज्ञ थे। अतः शृंगार रस के सभी अंगों का सुन्दर परिपाक वे सफल रीति से कर सके। राधा के सौन्दर्य्य की एक रेखा देखिये—

कि आरे नव यौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहये न पारिअ,
छओ अनुपम इकठामा॥

उद्दीपन विभाव का एक नमूना भी देखिये—

बाल वसन्त तरुण भये धाओल,
बढ़ये सकल संसारा।
दखिन पवन घन अंग उगारए
किसलय कुसुम परागे,
सुललित हार मजरि घन कज्जल
आँखितौ अञ्जन लागे।

और अनुभाव की एक रूपरेखा भी—

सुन्दरि चललिहु पहु घरना।
चहु दिसि सखि सबकर धरना।
जाइतहु हार टुटिये गेलना।
भूखन वसन मलिन भेल ना।
रोये रोये काजल दहाइ देल ना।
अदकंहिं सिंदुर मिटाये देल ना।
जाइतेहु लागु परम डरना।
जइसे ससि काँप राहु डर ना।

पर सौन्दर्य के अतिचित्रण के ही कारण यदि रामकुमारजी यह कहें कि "विद्यापति के इस बाह्य संसार में भगवत् भजन कहाँ, इस वयःसन्धि में ईश्वर की सन्धि कहाँ, सद्यः स्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, और अभिसार में भक्ति का सार कहाँ," तो उनके शब्दों में काव्य का चमत्कार अनुप्रास की छटा भले ही

हो, पर सत्य की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति नहीं दीखती। अधिक सत्य तो यह है कि विद्यापति की भक्ति तुलसी की भाँति दास्य-भाव की न थी। विद्यापति के सख्य भाव में सौन्दर्य-भावना की काफी गुञ्जाइश है, इससे इनकार नहीं हो सकता। अतः यदि तुलसी की भाँति वे यह नहीं कहें कि—

विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं
होत कबहुँ पल एक।
ताते सहहुँ विपति अति दारुन
जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बंसी पद अंकुश
परम प्रेम मृदु चारो,
एहि विधि बेधु हरहु मेरो दुख
कौतुक राम तिहारो॥

तो इसके लिये वे दोषी नहीं। क्योंकि सख्य भाव में अन्योन्याश्रय भक्ति होती है। उसमें प्रेम की बढ़ाई भी होती है, उत्कण्ठा का उत्कर्ष भी।

विद्यापति के सख्य भाव में भी हम निम्नलिखित तत्त्व पाते हैं—

१—उत्कण्ठा का उत्कर्ष अर्थात् प्रिय-मिलन की अत्यन्त आकुलता।

उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित पद है—

सुरपति पाये लोचन माँगों,
गरुड़ मागओं पांखि।
नन्द नन्दन मैं देखि आवओ
मन मनोरथ राखि॥
—विद्यापति।

जायसी ने भी इसी भाव का एक दोहा लिखा है—

यह तन जारौं छारि कै
कहौं कि पवन उड़ाओ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै
कन्त धरै जहँ पांव॥

अपने को मिटाकर भी प्रिय-मिलन की यह अभिलाषा! ये पंक्तियाँ
Alexeander Selkerk की,

Oh ! Had I the wings of a dove,
How soon would I taste you again,

से ऊँची श्रेणी की चीज़ हैं! क्योंकि यहाँ उत्कण्ठा आध्यात्मिक है!

२—प्रेम की दुर्बलता—जब प्रेम की उत्कण्ठा इतनी बढ़ जायगी तो वह दुर्निवार हो जायगा। उसे संसार में कौन रोक सकता है?

विद्यापति कहते हैं—"प्रेमक गति गुर्वार।" और भी,

धरब जोगिनियाँ के भेस रे
करब मैं पहुँच उदेस रे।

और भी,

जाकर हृदय जतहि रतल
से धंसि ततहि आय।
जइयो जतने बांधि निरोधिय
नीमन नीर थिराय?

इन पंक्तियों का भाव साम्य क़ालिदास में देखिये—

क ईप्सितार्थस्थिर निश्चयम्मनः
पयश्च निम्नभिमुखं प्रतीपयेत्!

३—विरह और प्रेम की एकरसता—ऐसा सच्चा प्रेम, जिसमें इतनी उत्कण्ठा और दुर्वारता हो, विरह से नहीं घबड़ाता। विरह

में भी स्थिर रहने की क्षमता है उसमें। क्योंकि वह पार्थिव नहीं है। शरीरान्तर से हृदयान्तर तो होता है वहाँ, जहाँ प्रेम लौकिक हो, वासनाजन्य हो। पर विद्यापति का प्रेम ऐसा नहीं। वह विरह की कसौटी पर खरा उतरता है—

सुजनक प्रेम हेम सम तूल।
दहियत कनक द्विगुण होय मूल॥
टुटियत नहिं टुट प्रेम अद्भूत।
जइसक बढ़ए मृनालक सूत॥

—विद्यापति।

यह अद्भुत, असाधारण, अलौकिक प्रेम, जो वासनारहित है विरह की आँच में तप कर स्वर्ण की तरह निकल आता है, खरा और विशुद्ध! क्योंकि कवि के हृदय में प्रेम के सिवा और कोई भाव है ही नहीं, स्वार्थ का, वासना का अथवा अपने 'अहं' का—

प्रीति अकेली बेलि चढ़ि छावा।
दूसरि बेलि न संचै पावा॥

क्योंकि यहाँ पूर्ण आत्मसमपर्ण है!

४—ऐसे प्रेम में उन्मत्तता और स्तब्ध किंकर्त्तव्य विमूढ़ता है! जब 'अहं' ही नहीं तो रोग का उपचार स्वयं कैसे किया जाय। उन्माद में अपनी हस्ती की ही सुधबुध नहीं। अब तो वही मिले तो यह विरह का दारुण दुःख दूर हो—

पुनि फेरि मोइ नयनन यदि हेरबि, पाओब चेतन, नाह।
भुजगिनि दंसि पुनहिं यदहि दंसे तबहि समय विस जाह॥

—विद्यापति।

५—उनके प्रेम में ढिठाई है, जो सख्यभाव में सौन्दर्य ला देती है। यह ढिठाई हम सूर में भी पाते हैं—

आज हौं एक एक करि टरिहौं।
के हमहीं के तुमहीं माधव, अपन भरोसे लरिहौं॥
अब हौ उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें विरद विनु करिहौं॥

—सूरदास।

पर इस पद के कारण हम यह नहीं कहते कि सूरने कृष्णको आराध्य के रूप में यहाँ नहीं देखा। आखिर सख्य भाव की भक्ति भी तो आराधना का ही एक अङ्ग है!

अतः यह कहना उचित नहीं कि "उन्हें सद्यःस्नाता अथवा वयःसन्धि के चञ्चल और कामोद्दीपक भावों की लड़ियाँ मात्र गूँथनी थीं।"

यदि ऐसा होता तो विद्यापति का प्रभाव युग-विशेष के साथ नष्ट हो जाता और चैतन्य महाप्रभु के समान कृष्ण के सच्चे भक्त उनके पदों का इतना आदर नहीं करते। जनार्दन मिश्र लिखते हैं—"विद्यापति के प्रचार का सबसे बड़ा कारण चैतन्य महाप्रभु हुए। बंगाल में वैष्णव सम्प्रदायके ये सबसे बड़े नेता हुए। इन पर लोगों की इतनी श्रद्धा थी कि ये विष्णु के अवतार समझे जाते थे। विद्यापति के ललित और पवित्र भावनाओं से पूर्ण पदों को गाकर ये इस प्रकार भाव में निमग्न हो जाते थे कि इन्हें मूर्च्छा सी आ जाती थी। इनके हाथों विद्यापति के पदों की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण लोगों में विद्यापति के प्रति आदर का भाव बहुत बढ़ गया।"

और आज सदियों के पश्चात् भी विद्यापति अमर हैं, उनकी पदावली अमर है। आज भी मैथिल जनता इनके मधुर गीतों को गा कर रस-मग्न हुए विना नहीं रहती। इनके कई पद लोगों की जिह्वा पर रहते हैं। निम्नलिखित उनमें से एक है—

सरसिज बिन सर, सर विनु सरसिज कीं सरसिज विनु सूरे।
तन बिनु यौवन, यौवन बिनु तन की यौवन पिय दूरे॥

कितना माधुर्य्य ! कितना लालित्य !! मानों हृदय-वन प्रान्त में उमड़ती भक्ति की निर्झरिणी इन्द्रधनुषी रंगों से रंगीन हो गई है जिससे उसके फेनिल तरङ्गों से राशि-राशि सौन्दर्य्य-रश्मियाँ फूट रही हैं !!!

विद्यापति की यह ध्वनि तब तक संगीत के स्वरों में गूँजेगी जब तक मन्दाकिनी की लोल लहरों में कल-कल नाद होगा !



जायसी का प्रेम काव्य

किसी युग विशेप की समस्या का समाधान उसी युग की परिस्थितियों में निहित रहता है। मानों इसी तथ्य के दृष्टान्त-स्वरूप प्रारम्भिक मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के वातावरण में मलिक मुहम्मद जायसी का आविर्भाव हुआ। हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या सब से अधिक महत्त्व की थी। "कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर करने का प्रयत्न किया। वह अधिकतर चिढ़ाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नहीं। मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है, वह उनके द्वारा व्यक्त न हुआ। ....कुतुब, जायसी आदि उन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रक्खा जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव पड़ता है। उन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामञ्जस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।" (पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १२३)

इस उद्देश्य की पूर्ति जायसी ने जिस रूप में की उसका स्थूल प्रतिफलन 'पदमावत' 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' हैं। 'पदमावत' चित्तौराधिपति रत्नसेन और सिंहलद्वीप की अद्वितीय सुन्दरी कुमारी पद्मावती की प्रेम-गाथा है। है तो यह लौकिक

प्रेम-कहानी ही, पर समस्त कथावस्तु में एक आध्यात्मिकता की अन्तर्धारा अभिव्याप्त है। लौकिक प्रेम द्वारा आत्मा और परमात्मा के अलौकिक प्रेम-सम्बन्ध की व्यंजना और कहीं-कहीं तो इसमें स्पष्ट कथन भी है। अखरावट में नागरी वर्णमाला के अक्षरों से छन्दारम्भ कर एक ओर वेदान्त और दूसरी ओर सूफ़ीवाद सम्बन्धी तथ्यों का वर्णन है। 'आखिरी कलाम' में कयामत आदि का वर्णन है।

जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार वस्तुतः पद्मावत ही है। इसका कथानक आदि हिन्दू वातावरण लिए हुए है, पर इसके पीछे सूफी सिद्धान्तों की रूपरेखा स्पष्ट है।

दार्शनिक आधार—जायसी की काव्यकला की अन्तर्चेतना का निर्माण दो तत्वों से हुआ-सा जान पड़ता है। एक तो यह तत्व जो उन्होंने भारतीय हिन्दू-संस्कृति के संसर्ग से ग्रहण किया, और दूसरा वह जो मुसलमान होने के नाते संस्कारवश इस्लाम के अन्तर्गत सूफी मत से प्राप्त किया। दोनों धर्मोंका स्पष्ट प्रभाव उनकी रचनाओं में लक्षित है। हिन्दू संस्कृति की प्रेरणा के फल स्वरूप अवधी में उन्होंने ग्रंथ-रचना की। छन्द भी हिन्दी के ही लिए। पद्मावत में वेदान्त, हठयोग और रसायन सम्बन्धी उक्तियां उल्लेखनीय हैं। विरह और षट्ऋतु वर्णन की मार्मिकता से तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण का हिन्दू जीवन के उच्चतम आदर्शों के साथ पूर्ण सामंजस्य से भी हिन्दू प्रभाव की पुष्टि होती है।

इसके अलावा मुसलमानी संस्कार का प्रभाव प्रथमतः उनकी शैली द्वारा अभिव्यक्त है। पद्मावत की रचना फ़ारसी की मसनवियों के ढंग की है "समस्त रचना में अध्याय और सर्ग न होकर घटनाओं के शीर्षकों के आधार पर खंड हैं। कथा ५७ खण्डों में समाप्त हुई है। कथा-प्रारम्भ से पूर्व स्तुति खंड में ईश्वर-स्तुति,

मुहम्मद और उनके चार मित्रों की वन्दना, फिर तत्कालीन राजा (शेरशाह) की वन्दना" आदि में मसनवी के प्रभाव का संकेत है। जायसी के विरह-वर्णन में यहाँ रस-शास्त्र के सामान्य नियमों के अनुकूल रति-भाव ही अपेक्षित होता है—जो बीभत्सता आ गई है वह भी मुसलमानी शैली से ही उद्भूत है। उदाहरण—

विरह सरागन्हि भूंजै माँसू।
गिर गिरि परै रकत कै आँसू॥

इस प्रकार विरह-वर्णन हिन्दू संस्कृति और काव्य-पद्धति के अनुकूल नहीं। मसनवी की अनावश्यक वर्णन-विस्तार की प्रवृत्ति भी जायसी के पद्मावत से दृष्टिपथ में आती है, जिससे कथानक की सजीवता को आघात पहुँचता है। पर सबसे बड़ी बात तो इस सम्बन्ध में है जायसी के कथानक में सूफ़ी सिद्धान्तों की रूपरेखा। प्रो० रामकुमार वर्मा के शब्दों में, समस्त कथा में सूफ़ी सिद्धान्त बादल में पानी के बूंद की भाँति छिपे हुए हैं। इसमें साधकों की चार अवस्थाओं शरीयत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारफ़त का संकेत बड़े चातुर्य से किया गया है। अन्त में समस्त कथा को सूफ़ी मत का रूपक माना गया है—

तन चित उर मन राजा कीन्हा
हिय सिंघल, बुधि पद्मिनि चीन्हा
गुरु सूआ जेहि पन्थ दिखावा
बिन गुरु जगत को निरगुन पावा
नागमती यह दुनियाँ धन्धा
बाँचा सोइ न एहि चित्त बन्धा
राघव दूत सोई सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू॥

वस्तुतः यह सूफ़ी मत है क्या वस्तु ? इसके उद्गम और विकास की कहानी क्या है ? इन बातों पर थोड़ा विचार कर लेना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति 'सूफ़' अर्थात् ऊन से प्रसिद्ध ही है। इस्लाम के मूल सिद्धान्तों से कुछ मतभेद रखने वाले और सादगी एवं आडम्बरहीनता को प्रधानता प्रदान करने वाले मुसलमान सूफ़ी कहलाए। ये सफ़ेद ऊन का वस्त्र पहनते थे, परमात्मा की सत्ता को सर्व-व्यापक मानते थे एवं प्रेम द्वारा आत्मा और परमात्मा के सान्निध्य में विश्वास रखते थे। एकेश्वरवाद (Monotheism) से इसका सिद्धान्त वेदान्त के अद्वैतवाद (Monxism) के अधिक समीप था। सूफ़ी धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यूरोपीय विद्वानों ने चार कारण बतलाए हैं—

१—मुहम्मदीय धर्म में व्यापकता का अभाव (Catholicity)।

२—सेमेटिक (Semetic) धर्म के विरुद्ध आर्य धर्म की प्रतिक्रिया, जो उपनिषदों के सिद्धान्तों के छन-छन कर उस ओर जाने के कारण हुई।

३—ग्रीस के निओ-प्लैटोनिक (Neo-plotonic) धर्म का प्रभाव। [निओ-प्लैटोनिक धर्म Plato के सिद्धान्तों में Plautinus के रहस्यवाद के मिश्रण का प्रतिफलन है]।

४—स्वतन्त्र उत्पत्ति—नीरदकुमारराय के मत में सूफ़ीवाद पर उपनिषद् का स्पष्ट प्रभाव दीखता है—

"फले देखा जाइते छे जे सूफी धर्म प्रधानतः उपनिषदेर अद्वैतवाद ओ वैष्णवदेर सहित भक्तिवादेर मिश्रणेर फल।"

—(प्रवासी, फाल्गुन १३४५)

सूफ़ियों की मुख्य साधना है कल्ब (हृदय) और रूह द्वारा नफ्स (इन्द्रियों) पर रौब ग़ालिब करना। आध्यात्मिक प्रेम इनकी पूँजी है। आलमे लाहूत में आत्मा-परमात्मा के चिरन्तन प्रणय मिलन की उपलब्धि इनकी साधना का उद्देश्य है। आत्मा आशिक़ है और परमात्मा माशूका। दोनों में इश्क का मधुर सम्बन्ध है। हिन्दी की कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों में भी यह दाम्पत्य-प्रेम की भावना पायी जाती है। सूफ़ियों की तो वह निधि ही थी। परमात्मा की दाम्पत्य प्रेम द्वारा उपलब्धि ही माधुर्य भाव की उपासना है। जब यह माधुर्य भाव सूफ़ियों से छिन कर हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत रहस्यवादी कवियों में आया तो इसका रूप कुछ परिवर्तित हो गया। सूफ़ियों के लिए अल्लाह लैला के रूप में, प्रेमिका के रूप में रहा। पर कबीर आदि ने भारतीय परम्परा के अनुसार राम को प्रियतम कहा और आत्मा को उनकी 'बहुरिया'।

जायसी ने दोनों प्रवृत्तियों का सामञ्जस्य करना चाहा है। न केवल प्रेमिका ही प्रेमी के विरह में वेजार आँसू बहाती है, वरन् प्रेमी भी 'प्रेम की पीर' लिए योगी बन कर वन वन की ख़ाक छाना करता है। पर अधिक तड़प, अधिक वेचैनी, अधिक कष्टों का सामना रत्नसेन को ही करना पड़ा है, पद्मावती को नहीं। प्रेम की भावना का प्रस्फुटन भी पहले रत्नसेन के ही हृदय में होता है। फिर भी फ़ारसी की मसनवियों जैसा ऐकांतिक और लोकबाह्य प्रेममात्र उसमें नहीं, वरन् भारतीय व्यवहारात्मक और लोकसम्बद्ध प्रेम-पद्धति का मिश्रण भी है। आरम्भ में प्रेम की विपमता और पूर्वापर सम्बन्ध की योजना भी जायसी को इसलिए करनी पड़ी क्योंकि उन्हें "इस प्रेम को लेकर भगवत्पक्ष में भी घटाना था। ईश्वर के प्रति प्रेम का उदय पहले भक्त के हृदय में होता है। ज्यों-ज्यों यह प्रेम बढ़ता जाता है त्यों-त्यों

भगवान की कृपा-दृष्टि भी होती जाती है। यहाँ तक कि पूर्ण प्रेमदशा को प्राप्त भक्त भगवान् को भी प्रिय हो जाता है।" (जायसी ग्रन्थावली, भूमिका पृ० ७१—रामचन्द्र शुक्ल) हम देखते हैं पद्मावती भी रत्नसेन के प्रेम की गहराई का परिचय पाते ही प्रेम-मग्न हो जाती है। फिर भी अप्रस्तुत आराध्य के लिए प्रस्तुत नायिका, तथा अप्रस्तुत साधक के लिए प्रस्तुत नायक (पुरुष) की योजना सूफी प्रेम-पद्धति की ओर ही जायसी की कुछ अधिक रुचि होने की परिचायिका है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत का यह विधान, कथानक में आध्यात्मिक व्यञ्जना की यह रूपरेखा सर्वत्र सफलतापूर्वक निभ नहीं पायी है। लौकिक प्रेम प्रबन्ध के प्रबल-प्रवाह में आध्यात्मिकता की अन्तर्धारा विलीन-सी हो गई है। और इसका कारण हुआ है कथा का अत्यधिक विस्तार एवं संयोग पक्ष में शृङ्गारिक वर्णन की प्रचुरता। फिर भी जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक संकेत हैं, अच्छे हैं। उनमें चमत्कार है, सुषमा है, सौन्दर्य है, कला है।

"पद्मिनी के रूप-वर्णन में जायसी ने कहीं-कहीं उस अनन्त सौन्दर्य की ओर, जिसके विरह में सारी सृष्टि व्याकुल-सी है, बड़े ही सुन्दर संकेत किए हैं—"

बरुनी का बरनौं इमि बनी।
साधे बान जानु दुइ अनी॥
उन बानन्ह अस को जो न मारा।
बेधि रहा सगरो संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने।
वै सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी।
साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥

बरुनि बान अस ओपहँ, बेधे रन, बन ढाँक,
सौजहि तन सब रोआँ, पंखिहि तन सब पाँख।

आध्यात्मिक व्यञ्जना के हेतु ही रत्नसेन का सिंहल द्वीप से लौटते समय तूफ़ान द्वारा लक्ष्य भ्रष्ट हो जाने के वर्णन को कथानक के अन्दर स्थान दिया गया। सिंहल द्वीप के लिए प्रयाण करने के उपरान्त योगी रत्नसेन के मार्ग की कठिनाइयों के बहाने भी साधक के मार्ग के विघ्नों (काम-क्रोधादि) की ही अभिव्यक्ति है।

आध्यात्मिक पक्ष में घटाने की प्रेरणा के ही वश कहीं-कहीं मनोविज्ञान और काव्य की कलात्मकता पर आघात भी पहुँचा है। जैसे सूए के मुख से पद्मावती के रूप-वर्णन के सुनने मात्र से ही रत्नसेन के हृदय में प्रेम का उत्पन्न हो जाना। पर जायसी को इसकी व्यवस्था इसलिए करनी पड़ी कि वे गुरु के श्रीमुख से सुन कर साधक के मन में उत्पन्न भगवदनुराग की व्यञ्जना भी इसी से कराना चाहते थे। उन्होंने कहा भी है—

"गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा"

इस प्रकार शब्द सौन्दर्य और कला की हत्या के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनकी कविता में कला की कमनीय कोमलता का नितान्त अभाव ही है।

कलापक्ष—इसके विपरीत हम पाते हैं कि जायसी कवि की दृष्टि से अत्यन्त ऊँचे पद के अधिकारी हैं। उनकी प्रबन्ध कल्पना का निर्वाह, उनके चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिकता, उनकी भाव्य-व्यञ्जना की मार्मिकता, उनके सौन्दर्य-चित्रण का अभिराम आकर्षण और उनकी अनुपम अलंकार-योजना उनके काव्य के कलात्मक उत्कर्ष के साक्षी हैं। आधिकारिक और प्रासंगिक कथावस्तुओं का मधुमय सामञ्जस्य कथानक को

कला की कमनीयता प्रदान करता है। प्रासंगिक वृत्तों की आवश्यकता समाप्त हो जाने पर अवसान; कार्यान्वय (Unity of action) की रक्षा; कार्य—जिसकी पूर्ति के लिए अन्य घटनाओं की योजना होती है—की महत्ता आदि जायसी के प्रवन्ध-चातुर्य के प्रमाण स्वरूप हैं। केवल एक बात खटकती है। वह है मार्मिक परिस्थिति के विवरण और चित्रण के लिए आयोजित घटनावली के विरामों के अलावा केवल पाडित्य-प्रदर्शन आदि के हेतु नियोजित विराम, जहाँ वस्तुओं की नामावली गिनायी गई है। एक देश-प्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग के कारण अप्रतीत्व दोप भी कहीं-कहीं ऐसे स्थलों पर हम पाते हैं।

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इनके पात्र यद्यपि किसी आदर्श के साँचे में ढले हुए हैं, फिर भी उनके आदर्श एकदेशीय हैं। गोस्वामी तुलसीदास के राम जहाँ एक साथ ही बल-पौरुष, नीति-मर्यादा, प्रेम-करुणा आदि सब कुछ के आदर्श हैं, और गोरा-बादल वीरता के। फिर भी उन आदर्शों की व्यञ्जना अनुपम हुई है।

जायसी की अलङ्कार-योजना की भाषा भी भावों के चरमोत्कर्ष में सहायक ही है। सादृश्य मूलक अलङ्कारों का उपयोग वे अधिक करते हैं। कहीं-कहीं अलंकार अत्यन्त गूढ़ हैं। हेतूत्प्रेक्षा इन्हें प्रिय है। फलोत्प्रेक्षा भी कई जगह है। रूपकातिशयोक्ति उनकी अत्यन्त मनोहर होती है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

गाने भ्रमंत करहिं अलि भवां।
गूँदहिं मालि करहिं अपसवाँ॥

फिर भी सामान्य रूप से देखने पर काव्य-दृष्टि से भी जायसी की रचना अत्यन्त उच्चकोटि की ठहरती है। पद्मावत हिन्दी साहित्य की अपने ढंग की एक मात्र सम्पत्ति है।

भक्ति-साहित्य का पूर्व रंग

और

भक्तिमार्गी शाखाओं का उद्भव ।

साहित्य और जीवन का शाश्वत सम्बन्ध है। किसी युग-विशेष का साहित्य उस युग के सामाजिक जीवन, धार्मिक वातावरण और राजनीतिक परिस्थितियों की ही उपज है। साहित्य की प्रगति युग विशेष के समाज के साथ उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा ही निसृत है। हिन्दी साहित्य का इतिहास भी अपवाद नहीं। सदा से, देश की धार्मिक परिस्थिति, सामाजिक संगठन और राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिच्छाया हिन्दी-साहित्य पर पड़ती आई है। हमारे भक्तियुग का साहित्य भी परिस्थितियों विशेष का ही प्रतिफलन है।

भक्तियुग का आधार भी हम राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक तीनों क्षेत्रों में पाते हैं। भक्तिमार्गी शाखाओं के प्रादुर्भाव के पूर्व का भारत राजनीतिक रूप से निःस्वत्व एवं शक्तिहीन हो चुका था। मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रभाव ने हिन्दुओं के राजनीतिक जीवन में ही नहीं, वरन् उनके धार्मिक और साहित्यिक जीवन में भी उथल-पुथल मचा दी। रामकुमार वर्मा के अनुसार "वीरगाथा काल के समाप्त होने के पहले ही साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति प्रारम्भ हो गई थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने जनता के साथ साहित्य को भी अस्थिर कर दिया था।......मध्यदेश में मुसलमानी तलवार का पानी राज्यों के अनेक सिंहासनों को डुबा रहा था। खिलजी वंश के अलाउद्दीन ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अधिकार जमा

लिया था। देवगिरि का यादव राजा रामचन्द्र, वारंगल, होयसिल, महाराष्ट्र और कर्नाटक के राजाओं को भी उसकी आधीनता स्वीकार करनी पड़ी। मुसलमानों की इस बढ़ती हुई ऐश्वर्य्यकांक्षा ने हिन्दुओं के अस्तित्व पर ही प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया।" [रा० कु० व०—आ० इ० पृ० १५६)

बात यह नहीं थी कि हिन्दू अशक्त थे अथवा उनमें पौरुष अशेष हो चुका था। भारत उस समय भी वस्तुतः मुसलमान आक्रमणकारियों के गति-अवरोध के लिए समर्थ था। शहाबुद्दीन गोरी का समकालीन उत्तरी भारत काफी शक्तिशाली था। क्योंकि अजमेर दिल्ली में चौहान वंश (पृथ्वीराज का वंश) काशी-कन्नौज में परिहार वंश, (जयचंद का वंश) और बंगाल-मगध में पाल और सेनराज्य अभी भी शक्तिशाली थे। गुजरात, चित्तौड़, ग्वालियर, बुन्देलखण्ड आदि के शासक भी बहुत ही शक्तिशाली थे। मगध और बंगाल के विजेता गोरी का सेनापति खिलजी आसाम में ससैन्य मारा भी गया (१३०० ई०)। अतः यदि हम चाहते तो मुसलमान आक्रमणकारियों का यथोचित प्रतिशोध ले सकते थे।

फिर भी हमारे अधःपतन के कारण क्या थे? शुकदेव, बिहारी मिश्र ने लिखा है [Ramadin Readership Lectures 1932-33; Patna University; page 95] कि हमारी पराजय का 'मुख्य कारण यह था कि भारत की भारतीयता थी ही नहीं और उसमें छोटे-छोटे प्रान्त मात्र थे जो अपने ही जरा-जरा से झगड़ों में ऐसे उलझे रहते थे और अपनी काल्पनिक महत्ता के ऐसे स्वप्न देखा करते थे कि विदेशियों से देश की रक्षा करने की न तो उनमें शक्ति थी, न संगठन।"

और भी पाश्चात्य एशिया में समर-कौशल उन्नत हो गया था और उसकी उन्नति का मुख्य साधन था हयशक्ति का

प्राधान्य। पर भारत इस नवीन साधन से अपने को अभी तक सम्पन्न न कर पाया था। अतः भारत की सैन्य शक्ति की इस कमी ने भी हमारी पराजय में योग दिया।

बात यह थी कि हमने युद्ध-कौशल की ओर उतना ध्यान दिया ही नहीं जितना सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर। सभ्यता और शान्ति की कमी से ये पाश्चात्य जातियां लड़ाकू थीं। पर भारत की सभ्यता ने उसे कलाओं का उपासक और दार्शनिकता-प्रिय बना दिया था। बर्बरता उसमें रह ही नहीं गई। क्योंकि सभ्य जाति जिस परिमाण में आध्यात्मिक रूप से अभ्युन्नत होती है, उसी हिसाब से भौतिक रूप से क्षीण-तर भी होती जाती है।

उस पर भी धार्मिक सम्प्रदायों के हेय और अशक्त-कारी प्रभाव ने हिन्दू-जाति को और भी दुर्बल और शान्ति-प्रिय बना दिया जिससे हम युद्ध की उपेक्षा और हिंसा से घृणा करने लगे। बुद्ध सम्बन्धी जातकमालाएँ इस दिशा में निर्देश करती हैं। बौद्धों के अंहिंसावाद ने और उसके पश्चात् कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य के अद्वैत और मायावाद के प्रचार ने हिन्दुओं को राजनीतिक प्रभुत्व तथा भौतिक उन्नति की ओर से और भी उदासीन बना दिया। "हम बौद्ध धर्म के कुए से निकले तो, परन्तु अद्वैतवाद और मायावाद की खाई में ही पहुँच गए।" जब संसार ही मिथ्या है तो फिर आजादी और राष्ट्रीयता के विचारों की गुंजाइश ही कहाँ होती है। १००० संवत् के लगभग सन्यासियों का एक बृहत मंडल जिसमें रामानुज, मध्व निम्बार्क, विष्णु स्वामी, वल्लभाचार्य, चैतन्य और हितहरिवंश मुख्य थे, देश में तैयार हो गया था, जिसने लोगों को दार्शनिकता की ओर भी प्रवृत्त किया।

इन सब का फल यह हुआ कि सभ्यता और संस्कृति के विचार से समुन्नत होते हुए भी हम शारीरिक रूप से इतने अशक्त हो गए कि जब यवन लुटेरों ने पश्चिम के द्वार पर आकर हमारे अस्तित्व को ही चुनौती दी तो उसका प्रत्युत्तर देने की क्षमता हममें न थी। हम पराजित हुए, भौतिक, राजनीतिक रूप मे निस्वत्व और असहाय! पर बात यहीं तक न रही। मुसलमानो ने केवल राजनीतिक रूप से ही हमें अवश और शक्तिहीन नहीं किया वरन् तलवार की नोक पर अपने धर्म का प्रचार भी यहाँ करने लगे! हमारी सभ्यता और संस्कृति पर भी—जिसको अपने हृदय के रक्तसे हमने सींच कर पुष्पित-पल्लवित किया था, उन्होने कुठाराघात करना आरम्भ कर दिया यह हिन्दुओं के लिए असह्य था, अत्यन्त असहनीय! पर करते क्या? भौतिक शक्ति हमारे पास बच नहीं गई थी। रक्षा का कोई उपाय न मिला, तो हमारी वृत्तियां स्वाभाविक रूप से ईश्वरोन्मुख हुई! रामकुमार वर्मा भी लिखते हैं—"हिन्दुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। वे मुसलमानों को न तो पराजित कर सकते थे, न अपने धर्म की अवहेलना ही सहन कर सकते थे। इस असहायावस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। वे ईश्वरीय शक्ति और अनुकम्पा पर ही विश्वास रखने लगे।......दुष्टों को दण्ड देने का कार्य भी ईश्वर पर ही छोड़ दिया ....। इस समय हिन्दू राजा और प्रजा दोनों के विचार इसी प्रकार भक्तिमय हो गए और वीरगाथाकाल की वीररसमयी प्रवृत्ति धीरे-धीरे शान्त और शृंगार रस में परिणत होने लगी।

"चारण भी अब किनकी वीरगाथा गाते और किसे रण के लिए उत्साहित करते!" अब तो भक्ति-भाव की रचनाएँ ही सान्त्वना का एकमात्र साधन था, क्योंकि रामचन्द्र शुक्ल के

अनुसार" अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान शक्ति और करुणा को ध्यान में लाने के अतिरिक्त सान्त्वना का दूसरा मार्ग ही क्या था।" [हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ६३]

अतः हम देखते हैं कि "हिन्दू राष्ट्रीयता की चिता का भस्म ही भक्तिमार्गियों के लिए भभूत सिद्ध हुआ" (प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, शास्त्री)

भक्तियुग का दार्शनिक आधार मुख्यतः दक्षिण में रामानुज निम्बार्क, विष्णुस्वामी और मध्वाचार्य द्वारा प्रणीत हुआ। इसके आरम्भ का बीज वैदिक युग में ही है जिस काल के ब्राह्मण धर्म से इसका सम्बन्ध है। वैदिक काल याग प्रधान अथवा कर्मकाण्ड प्रधान था, और सूर्यादि देवता माने जाते थे। उसके पश्चात् औपनिषदिक युग आया जिसमें ज्ञानकाण्ड की प्रधानता रही। श्रुतियों और स्मृतियों के इस युग में जिज्ञासु व्यक्ति ज्ञानियों के संसर्ग से ज्ञानार्जन करते थे। (उप + नि + पद् = पास में बैठना)। सूर्यादि देवताओं का स्थान ब्रह्म की भावना ने ले लिया था। इसके पश्चात् धीरे-धीरे वास्तविक ज्ञान के स्थान पर रूढ़ियों ने घर कर लिया और ब्राह्मण धर्म पशु-हिंसा, शूद्रों पर अत्याचार आदि अनेक बुराइयों से जर्जर हो गया। इसी की प्रतिक्रिया बौद्ध धर्म के रूप में हुई। ज्ञानकाण्ड की अधिकता और कर्मकाण्ड—प्रधानतः हिंसा, के प्रति घोर विप्लव इसकी विशेषताएँ हैं। ब्रह्मभाव का स्थान 'शून्य' ने ले लिया। हम देखते हैं कि ब्रह्म की सत्ता धीरे-धीरे सूक्ष्मतर होती जाती है। बौद्धों के सिद्धान्त 'सर्वं क्षणिकं' 'सर्वं शून्यं' आदि चतुष्टय में निहित हैं। बुद्ध के अनुसार "संसार और उसके सब पदार्थ अनित्य और दुःखमय हैं। सब दुःखों का मूल कारण अविद्या है।..........तृष्णा के नाश ही का नाम निर्वाण है।.....बौद्ध

धर्म की सब से बड़ी विशेषता 'अहिंसा परमोधर्मः' है।........ शील, समाधि और प्रज्ञायज्ञ ही उत्कृष्ट यज्ञ हैं। बौद्ध धर्म ईश्वर के विषय में उदासीन है।...... बौद्धों के त्रिरत्न—बुद्ध, संघ और धर्म माने जाते थे।" (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—गौ० ही० ओझा पृ० ४)

बौद्धधर्म राजश्रय पाकर फलाफूला पर पीछे से यह आश्रम हट जाने के कारण उसकी शीघ्र ही अवनति होने लगी और प्राचीन हिन्दू धर्म का सितारा फिर बुलन्द हुआ। बौद्धधर्म का प्रारम्भ यद्यपि सन्यास-मार्ग प्रधान था, फिर भी इसमें आगे चल कर दो शाखाएँ—हीनयान और महायाननामक हो गईं। महायान शाखा पर हिन्दू धर्म का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। शुष्क, निरीक्षण सन्यास मार्ग सभी नहीं अपना सकते थे। अतः बौद्ध धर्म की भी महायान शाखा में भक्ति को स्थान मिला और बुद्ध, उपास्यदेव बने। फिर तो २४ अतीत बुद्ध, २४ वर्तमान और २४ भावी बुद्धों की कल्पना की गई और उनकी मूर्तियाँ भी बनीं। नष्ट होता हुआ बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म पर भी अमिट प्रभाव छोड़ गया २४ अवतारों की कल्पना सम्भवतः बौद्धों के २४ बुद्धों से ली गई हो। बुद्ध भी विष्णु के एक अवतार मान लिए गये। बौद्धधर्म और हिन्दू धर्म में अनेक समानताएँ हो गईं। अतः लोग बौद्ध-धर्म छोड़ कर हिन्दुत्व ग्रहण करने लगे, जहाँ सब प्रकार की स्वतन्त्रताएँ थीं। डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार बौद्धधर्म के पतन के कारणों में से एक यह भी था कि "अत्यन्त प्राचीनकाल से ईश्वर पर विश्वास रखती हुई आर्य जाति का चिरकाल तक अनीश्वरवाद को मानना बहुत कठिन था।" (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ७) पर बौद्धधर्म के अस्तित्व पर सब से बड़ा आघात कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य का आन्दोलन था। बौद्धों का वेदों पर अविश्वास इन्हें खटकता था। अतः

इन्होंने प्राचीन ब्राह्मण धर्म के पुनर्निमाण का आन्दोलन किया। इनके आन्दोलन की व्यापकता का पता शंकर-दिग्विजय में कुमारिल के द्वारा शंकर को कथित निम्नलिखित श्लोक से लगता है-

श्रुत्यर्थ धर्म विमुखान् सुगतान् निहन्तु।
जातं गुहं भुवि भवंतमहं नु जाने॥

अर्थात् वेदार्थ से विमुख बौद्धों को नष्ट करने के लिये आप गुह (कार्तिकेय) रूप से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

शाँकर अद्वैत ब्राह्मणधर्म में बौद्धधर्म की प्रतिक्रिया का मूर्त्त परिणाम है। शङ्कराचार्य को लोगों ने 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है क्योंकि बौद्धों की ही भाँति धर्म और दर्शन दोनों में इन्होंने बौद्धिक आधार (Rational Basis) से काम लिया है। यह आवश्यक भी था, क्योंकि इन्हें बौद्धों को भी अपने मत की ओर आकर्पित करना था। अस्तु, इनके अद्वैतवाद का मूल तत्त्व हुआ—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" और सिद्धान्त वाक्य दो हुए—'तत्वमसि' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि'। 'सदसद्भ्यां अनिर्वचनीयं ब्रह्म'—शङ्कर के ब्रह्म की परिभाषा थी। यह बुद्ध के ब्रह्म से मिलता-जुलता है। अतः 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहना सार्थक भी है। इन्होंने तीन सत्ताएँ मानी—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक जो प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट (Kant) के Critiques of pure Reason of Practical Reason and of Aesthetic Reason से मिलता-जुलता है। इनका दर्शन अधिक पूर्ण होने के कारण भी बौद्धधर्म पर विजय पा सका। सर राधाकृष्णन् कहते हैं—"His philsophy stands complete needing neither a before, nor after पर यह कहना युक्ति-संगत नहीं। अधिक पूर्ण भले ही हो, पर वह सर्वथा पूर्ण नहीं जैसा हम आगे देखेंगे। पर सर राधाकृष्णन् का निम्नलिखित कथन—"It is said, not with

out truth that Brabminiom Killed Budbism By a Fratesnaiombsace ठीक ही है।

बौद्धधर्म पर अद्वैतवाद विजयी हुआ अवश्य पर उसकी रूपरेखा भी जीवन में घुलने-मिलने के कारण अपरिवर्तित नहीं रह सकी। दो-तीन शताब्दियों के पश्चात् शङ्कर के दार्शनिक सिद्धान्त का रूप व्यावहारिक हो गया। फलस्वरूप उसमें भक्ति का समावेश हुआ जिसके भिन्न-भिन्न शाखाओं के प्रवर्तक आचार्य चतुष्टय—रामानुज (१२ वीं सदी), निम्बार्क (१२ वीं सदी), विष्णुस्वामी (१३ वीं सदी), और मध्व (१४ वीं सदी)—हुए। हिन्दी भाषा के आरम्भ और विकास पृष्ठ १८३ में 'हरिऔध' जी कहते हैं—"ज्ञानाश्रयी सिद्धान्त जब व्यावहारिक बनते हैं तो उनको भक्ति को साथ लेना पड़ता है, क्योंकि संसार अधिकतर क्रियात्मक जीवन का प्रेमिक है। अतः अद्वैतवाद भी भक्ति के समावेश से परिवर्तित हो गया जिसके विभिन्न रूपों का प्रचार इन आचार्यों ने दक्षिण में किया। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत, विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। इनमें भेद तो बहुत हैं पर कुछ साम्य भी है। रामकुमार वर्मा (आ० ३ पृ० १८२) के अनुसार वे ये हैं—

१—अद्वैतवाद से ब्रह्म का निरूपण किसी न किसी रूप में अवश्य भिन्न है।

२—गुरु ब्रह्म का प्रतिनिधि और अंश है।

३—गोलोक अथवा वैकुंठ की प्राप्ति ही भक्ति का परम उद्देश्य है।

४—भक्ति के लिए जाति का बन्धन नहीं होना चाहिए। जाति-बन्धन तो बौद्धों ने ही छिन्न-भिन्न कर दिया था। शंकर ने भी जाति विचार और वर्ण-व्यवस्था में उदार भावना ही रखी।

अतः यह इन आचार्यों की मौलिकता न थी। हां, ये ब्राह्मणों को शूद्रों से ऊंचा अवश्य समझते थे, यद्यपि शूद्रों को भी भक्ति का अधिकार था।

रामानुज का जन्म सं० १०७४ में हुआ। इन्होंने शंकर के मायावाद या अद्वैतवाद का खण्डन कर जीव की स्थिति में सत्यता की भावना उपस्थित की। ईश्वर के सिवा आत्मा की सत्ता को भी सत्य माना, जो शंकर के विरुद्ध है। ये 'पदार्थ त्रैतयम्' की स्थिति के विश्वासी थे, जिसमें परब्रह्म (विष्णु) चित् (जीव) और अचित् (दृश्यम्) सम्मिलित हैं। ये तीनों अविनाशी हैं। "यद्यपि ब्रह्म और चित् एक ही तत्व से निर्मित हैं (अद्वैत) तथापि उनका अन्तर माया-जनित नहीं है।" इसी विशेषता के कारण उनका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। ब्रह्म की अभिव्यक्ति के पांच प्रकार हैं—मूर्त्ति, अंशावतार, पूर्णावतार, सूक्ष्म और अन्तर्यामिन्। साधक एक बार ही अन्तिम सोपान का अधिकारी नहीं। अतः प्रथम मूर्त्तिपूजा का ही आश्रय श्रेयस्कर है। फिर अन्य अवस्थाओं को क्रमशः पार करते हुए साधक-हृदय में अन्तर्यामिन् की अनुभूति प्राप्त करता है वैकुण्ठ या साकेत का यह अभिज्ञान सम्मिलन (wnsoions assimilation) विशिष्टाद्वैत की विशेषता है।

मध्व का जन्म सं० १३१४ है। इनके अनुसार विष्णु ही एक अविनाशी ब्रह्म हैं। ब्रह्म से ही जीव उत्पन्न है। दोनों में स्वामी सेवक का आराध्य-आराधक का सम्बन्ध है। दोनों एक नहीं। कृष्ण ही ब्रह्म हैं और उनकी भक्ति ही ब्रह्म के पाने का एकमात्र साधन है।

विष्णुस्वामी ने अद्वैतवाद को माया से रहित कर शुद्धाद्वैत की स्थापना की। कृष्ण को आराध्य माना पर साथ ही साथ राधा को भी प्रधानता दी।

निम्बार्क बारहवीं सदी में आविर्भूत हुए। ये राधाकृष्ण उपासक थे। इनके अनुसार ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी उसमें अपना अस्तित्व खो देता है। यह भक्ति की साधना द्वार सम्भव है। निम्बार्क स्मार्त नहीं थे। अतः राधाकृष्ण के दूसरे देवी-देवताओं को नहीं मानते थे।

इन चार सिद्धान्तों के फलस्वरूप उत्तर भारत में चार स दायों की सृष्टि १५ वीं सदी तक हुई— [आधार]

१—श्री सम्प्रदाय—रामानुज और रामानन्द।

२—ब्रह्म सम्प्रदाय—माधव वैष्णव।

३—रुद्र सम्प्रदाय—विष्णुस्वामी।

४—सनकादि सम्प्रदाय—निम्बार्क।

दक्षिण से चली हुई धार्मिकता की यह लहर जब उत्तर भा में आई तो वहाँ इसका यथेष्ट विकास हुआ, क्योंकि राजनीति अधःपतन और धार्मिक अवलम्ब की प्यास के कारण उत्त भारत इसके लिए उपयुक्त क्षेत्र हो चुका था। यहाँ वैष्णव ध का यह सम्प्रदाय विभिन्न शाखाओं में विकसित और पल्लवित पुष्पित हुआ।

रामानुज की परम्परा में रामानन्द काशी में १४ वीं सदी [illegible] हुए, जिन्होंने रामानुज के श्री सम्प्रदाय को अत्यन्त व्यापक औ लोकप्रिय बना उसकी श्री वृद्धि की। इन्होंने विष्णु अथवा नारा यण के स्थान में विष्णु के अवतार राम की भक्ति और उपासना को महत्त्व दिया। भक्ति के क्षेत्र में जाति-भेद का बहिष्कार और संस्कृत के स्थान में भाषा में भक्ति का प्रचार की नवीनता उनके मत की लोकप्रियता का कारण बना। विष्णु, इनके अनुसार, [illegible] हो अवतार लेते हैं और दुष्टों का [illegible]

अपनी वाणी में पावन धार्मिकता को मुखरित कर तत्कालीन समाज का अतिशय कल्याण किया। पर कबीर ने रामानन्द के 'राम' को दाशरथि राम के रूप में न लेकर सतघट व्यापी परमात्मा सत्ता के रूप में ही लिया। यह उनकी व्यक्तिगत विशेषता थी। सम्भव है, यह मुसलमानी प्रभाव के कारण हो, जिसका जिक्र आगे आएगा।]

निम्बार्क की सरणी में पूर्व (बंगाल) में चैतन्य और पश्चिम में वल्लभ आते हैं। चैतन्य १६ वीं सदी में हुए। यद्यपि ये मध्व के ब्रह्म सम्प्रदाय में दीक्षित हुए तथापि दार्शनिक दृष्टिकोण से इन्होंने निम्बार्क के द्वैताद्वैत सिद्धान्त को ही महत्त्व दिया। गान और नृत्य के साथ कीर्तन को भी इन्होंने अपने सम्प्रदाय में स्थान दिया। राधा और कृष्ण की भक्ति पाँच प्रकार से बतलाई—

१—शान्ति—ब्रह्म पर मनन
२—दास्य—सेवा
३—सख्य—मैत्री
४—वात्सल्य—स्नेह
५—माधुर्य्य—दाम्पत्य

पूर्व में निम्बार्क की आकर्षक भक्ति-पद्धति से जयदेव प्रभावित हुए, जिनके बाद विद्यापति का स्थान आता है।

वल्लभ ने भी निम्बार्क के मत का अवलम्बन किया। कृष्ण को ब्रह्म और राधा को उनकी स्त्री और उनके क्रीड़ास्थल को वैकुण्ठ माना है। दार्शनिक दृष्टिकोण से इनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत का है (द्वैताद्वैत का नहीं)। माया के बहिष्कार से भक्ति का स्थान ज्ञान से उच्च है, वरन् सर्वोच्च है। क्योंकि भक्ति ही से ब्रह्म की अनुभूति सम्भव है। यह भक्ति केवल कृष्ण के

अनुग्रह से ही प्राप्य है। इसी अनुग्रह का नाम 'पुष्टि' है। यह पुष्टि चार प्रकार की है—

प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि-पुष्टि, शुद्ध पुष्टि। ब्रह्म सत् चित् और आनन्द मय है। सत् से प्रकृति, सतचित् से जीव और जीवों से परमात्मा का प्रकटीकरण होता है। वल्लभ के पुत्र विट्ठल के आठ शिष्य थे जो अष्ट छाप कहलाए। इनमें सूरदास, नन्ददास, छीतस्वामी आदि-आदि थे।

इस प्रकार हिन्दी-कविता की भक्तिमार्गी शाखाओं के उद्भव का सम्बन्ध दक्षिण से आई हुई धार्मिक भावना के विशिष्ट अंगों से जुड़ता है। पर इन शाखाओं में कुछ पर, जैसे कबीर आदि पर, अन्य प्रभाव भी थे। ये दूसरे प्रभाव उत्तर-पूर्व के धार्मिक विकास के और इस्लाम की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप थे।

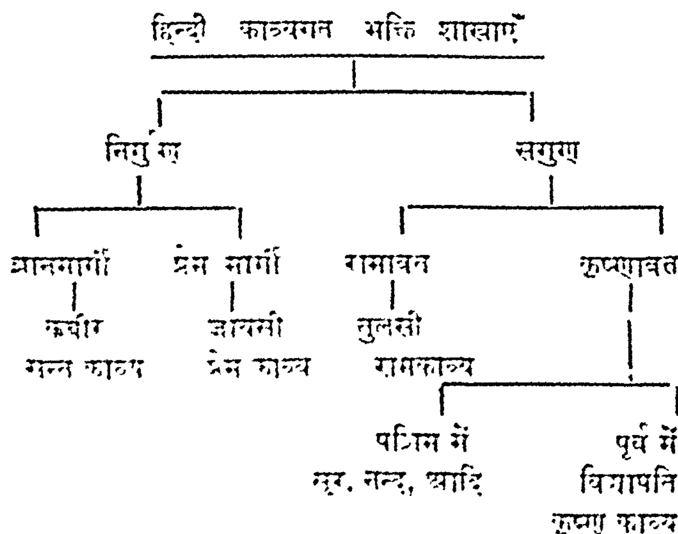
इधर उत्तर-पूर्व में नालन्दा और विक्रमशिला (भागलपुर के पास) में बौद्ध धर्म का वज्रयान सिद्धान्त था, जो महायान का ही एक भ्रष्ट रूप था। इसमें हठयोग आदि का प्रचार था। आरम्भ में ही यह सिद्धान्त बिहारी भाषा साहित्य में था, जो मागधी का ही अपभ्रंश रूप था। प्रथम कवि इस का सरहपा है। इसी को सिद्ध साहित्य भी कहते हैं। इसका समय ७०० से १२४० है।

कबीर से प्रारम्भ होने वाली संत-परम्परा में नानक, दादू, मलूक, सुन्दरदास आदि को मानना चाहिए[1]"—रामकुमार वर्मा। आलोचनात्मक इतिहास पृ० १३५ में रामकुमार जी लिखते हैं कि हिन्दी साहित्य की "वह शाखा दार्शनिकता की दृष्टि से तो शैवमत के अन्तर्गत है और व्यावहारिक दृष्टि से पतञ्जलि के हठयोग से सम्बन्ध रखती है।" क्योंकि वज्रयान का शून्यवाद ही शैवमत के नाथ पन्थ के अन्तर्गत अलख, निरञ्जन और हठ-योग, तथा संत साहित्य (निर्गुण पन्थ) में सहस्रदल कमल का शून्य और हठयोग सम्बन्धी, इडा, पिंगला, कुण्डलिनी और ब्रह्मरंध्र हुआ।

मध्यकाल के हिन्दी साहित्य पर सामाजिक अवस्था का प्रभाव एक और प्रभाव था, मुसलमानों का श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि भक्ति साहित्य का विकास मुसलमानी प्रभाव से स्वतन्त्र रूप में हुआ पर यह आंशिक रूप से ही सत्य है। वस्तुतः— मध्ययुग के भारतीय समाज के हिन्दू और मुसलमान, दोनों आवश्यक अंग बन चुके थे। दोनों को साथ-साथ रहना था। यह एक समस्या हो गई। इन दो जातियों के सम्पर्क और संघर्ष ने दो प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया, जिसे हम अनुरोधिनी और प्रतिरोधिनी कह सकते हैं। कुछ लोगों ने समझा कि दोनों को एक होकर रहने में ही कल्याण है और इस हेतु दोनों धर्मों की एकता भाँति-भाँति से प्रतिपादित करने लगे। वे वाह्य भेदों को तुच्छ और उपेक्षा के योग बतलाते थे और आन्तरिक अभेद ही को मान्य कहते थे। इनमें कबीर और जायसी आदि का नाम है। जायसी का पद्मावत हिन्दू वातावरण और चरित्रों की आड़ में सूफी सिद्धान्तों के प्रतिपादन का प्रयास भी कहा गया है। पर उसमें अद्वैतवाद का प्रभाव मानना भी अयुक्ति संगत नहीं।

प्रतिरोधिनी प्रतिक्रिया वालों में तुलसी और सूर आदि हैं जिनके विचार से हिन्दू और मुसलमान दो थे और हिन्दू संस्कृति को मुसलमानी प्रभाव से अक्षुण्ण रखना सर्वथा आवश्यक था।

निष्कर्ष यह कि उस समय हिन्दी में काव्यगत भक्तिशाखाओं के निम्नलिखित रूप थे जो एक 'चार्ट' (Chart) के रूप में प्रदर्शित हैं—



तुलसी का समन्वयवाद

तुलसी की काव्य-सरिता पुनीत जाह्नवी की ही भाँति केवल अपने कलकल-छल-छल के अनुपम सौन्दर्य से ही तरंगित नहीं, वरन् पावनता और लोकोपकारिता के गुणों से भी समन्वित है। उसके तीरों पर सामाजिक जीवन केवल सौरभ और सुषमा से ही विभोर नहीं होता वरन् अपनी युगों की प्यास भी मिटाता है और अपनी चंचल चित्त-वृत्तियों को प्रशान्त बनाने का भी अवसर पाता है। तुलसी-साहित्य का सृजन ही कुछ ऐसी परिस्थितियों का प्रतिफलन है! 'उसमें लोक पावन आदर्श की प्रतिष्ठा एवं व्यापक समन्वयवाद की भावना अनिवार्य रूप से सन्निविष्ट हैं।

मुसलमानों द्वारा आक्रान्त हिन्दू भारत की शिराएँ कम्पित थीं, सोमनाथ के शिव-मन्दिर के ध्वंस और इस्लाम की क्रमशः विजय के परिणाम स्वरूप हिन्दू जनता न केवल आत्मविश्वास ही खो चुकी थी, बल्कि उसका मूर्त्त ईश्वर पर से विश्वास भी बहुत कुछ उठा जा रहा था। फलतः 'निरगुनियों की बानी' उनमें सुगमता से फैल रही थी। कबीर आदि निर्गुण सन्तों के स्वर में लोक-धर्म और मर्यादा की उपेक्षा की रागिनी मिश्रित थी जिसका परिणाम समाज के लिए अन्ततः कल्याणकर नहीं हो सकता था। रहस्य-प्रधान निर्गुण पंथ में ईश्वर का जो रूप रखा गया वह सर्वसाधारण की पहुँच के बाहर की वस्तु थी। न तो सभी सन्त ही हो सकते थे और न ज्ञानी ही। परिणाम इसका यह होता था कि सच्ची धार्मिक भावनाओं से जनता दूर हटती जा रही थी और वितंडावाद बन रहे थे, खंडन-मंडन का जोर

था। शैव और वैष्णव साधुगण भी उस मनोवृत्ति से मुक्ति नहीं पा सके थे। सभी अपने मत का प्रचार और अपनी बातों का सिक्का जमाने के फेर में थे। और जनता जो सदा नेताओं के हाथ की कठपुतली रही है—हठयोगी, तांत्रिक, शैव-शाक्तादि के मायाजाल में पड़ वास्तविक धार्मिक दृष्टि से वञ्चित रखी जा रही थी।

उस समय तीन प्रमुख धाराएँ प्रचलित थीं—

१—प्राचीन परम्परागत परम्परा विरोधी तू-तू मैं-मैं पन्थी शैव-वैष्णवादि साधुओं की धारा—

२—अज्ञानी किन्तु ज्ञानीमार्गी निर्गुणियाँ सन्तों की धारा-

३—हठयोगी, तांत्रिक, शैवशाक्त आदि जो अपने अलौकिक शक्तियों के बल से भोली जनता पर धाक जमाने की चेष्टा किया करते थे।

'अन्तर जामिहि ते बड़े बाहर जामिहँ राम।' विचार किए थे।

प्रथम धारा वालों के प्रति तुलसी का दृष्टिकोण समन्वयवाद का ही रहा। उनके इस व्यापक समन्वयवाद को हम तीन चार दृष्टियों से देख सकते हैं—

(१) ज्ञान, कर्म और उपासना में समन्वय।
(२) सगुण-निर्गुण समन्वय।
(३) प्राचीन परम्परागत परस्पर विद्वेषी तू-तू मैं-मैं वादी भिन्न-भिन्न प्रचलित मतों का समन्वय।
(४) लोक पक्ष और भगवदाराधन में समन्वय।

स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "जिस प्रकार उन्होंने लोक-धर्म और भक्ति साधना को एक में सम्मिलित कर के दिखाया, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासना के बीच भी सामञ्जस्य उपस्थित किया। 'मानस' के बालकाँड में संत समाज का जो लम्बा रूपक है, वह इस बात को स्पष्ट रूप में सामने लाता है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १७०)

ज्ञान और भक्ति के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञान मस्तिष्क का विषय है, भक्ति हृदय का। ज्ञान में निवृत्ति का मूल है, भक्ति में उपासना अथवा कर्म की प्रेरणा। ज्ञान की परिणति है शून्यता में भक्ति का अन्तिम सोपान है इष्टदेव के चरणों में। आत्मसमर्पण व्यक्तित्व विसर्जन! इतना अन्तर के अनन्तर भी दोनों में आन्तरिक अभेद का अस्तित्व अशेष नहीं हो जाता। मूलतः दोनों में तात्विक एकता है। भावात्मक ज्ञान ही व्यावहारिक क्षेत्र में चलकर कर्म अथवा उपासना का दिवस बन जाता है। भक्ति भी ज्ञान का ही रागात्मक संस्करण है। मानव की चेतना मस्तिष्क का सहारा ले ज्ञान की रूप रेखा ग्रहण करती है और वहीं हृदय जनित अनुराग से सज्जित हो भक्ति की पूत निर्झरिणी के रूप में फूट निकलती है।

आन्तरिक तत्त्व दृष्टि विहीन धर्म प्रचारक गण इस मौलिक अभेद को न देखते हुए परमात्मा को व्यर्थ ही ज्ञान अथवा भक्ति की विशिष्ट परिधि में आबद्ध करते हुए वितंडावाद का प्रचार करते हैं। पर तुलसी जैसे सहृदय भक्त एवं तत्त्वदर्शी इस तथ्य को समझते थे। अतः उन्होंने "ज्ञान और भक्ति का यह विरोध दूर कर धार्मिक परिस्थितियों में महान ऐक्य की सृष्टि की। ज्ञान भी मान्य है, पर भक्ति की अवहेलना कर के नहीं। इसी प्रकार भक्ति का विरोध भी ज्ञान से नहीं। दोनों में दृष्टिकोण का थोड़ा सा अन्तर है।"* गरुड़ द्वारा पूछे जाने पर कि—

ग्यानहिं भगतहिं अन्तर केता।
सकल कहौ प्रभु कृपा निकेता॥

कागभुसुंड ने कहा था—

ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहि भव संभव खेदा॥

फिर भी कुछ अन्तर है। और वह इतना ही है कि ज्ञान पुरुष है और भक्ति स्त्री। फलतः—

मोह न नारि नारि के रूपा।
पन्नगारि यह रीति अनूपा॥
माया भगति सुनहु प्रभु दोऊ।
नारि वर्ग जानहिं सब कोऊ॥

भक्त को माया अपने मधुमय पाश में नहीं फँसा सकती, पर ज्ञानी को माया की शरा सदा ही सशंकित किया करती है। भगवान को भी भक्त ही प्रिय है—

भगतहि सानुकूल रघुराया।
ताते तेहि डरपति अति माया॥

भक्त को "रघुपति कृपा सपनेहु मोह न होई"

* हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—राकु० व०पृ० ५१०

ज्ञान की साधना कठिन उत्तुङ्ग हिमश्रृंग के समान दुरारोह है, पर भक्ति की पुनीत सुरसरि सर्व सुलभ और सरस तरल भी है। देखिए—

ग्यान कै पंथ कृपान कै धारा।

* * *

जौं निरविघन पंथ निरवहई।
सो कैवल्य परम पद लहई॥

कलिकाल में तो यह नितान्त असंभव-सा ही है। अतः भक्ति अथवा राम-नाम ही एक मात्र सहारा है—

नहिं कलिकर्म न भक्ति विवेकू।
राम नाम अवलंबन एकू॥

यह भक्ति भी सेवक-सेव्य भाव से ही होनी चाहिए—

सेवक सेव्य भाव विनु, भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धांत विचारि॥

इस प्रकार दोनों में कोई मौलिक विरोध नहीं वतलाते हुए भी भक्ति को ज्ञान से उन्होंने अधिक महत्ता प्रदान की। ज्ञान को भक्ति के अधीन भी वतलाया है। स्वयं श्री रामचन्द्रजी के मुख से सुन लीजिए—

जातें वेगि द्रवौं मैं भाई।
सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना।
तेहि अधीन ज्ञान विज्ञाना॥

रामचन्द्रजी अरण्य काण्ड में नारद से वतलाते हैं कि भक्त उस वालक के समान है जिसकी रक्षा मा अपनी ममता की अञ्चल से सतत किया करती है, परन्तु—

प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता।
प्रीति करै नहिं पाछिल वाता॥

मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी।

ज्ञानी वह प्रौढ़ है जिसे माता का उतना नैसर्गिक प्यार लब्ध नहीं।

तुलसी ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त भी भक्ति की उपेक्षा नहीं करने के पक्ष में थे—

पाएहु ग्यान भगति नहि तजहीं।

ज्ञान और भक्ति "दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, दोनों में किसी प्रकार का भी विरोध नहीं, यही तुलसीदास के भक्ति-ज्ञान प्रकरण का निष्कर्ष है।" [रा० कु० व०—हि० सा० का आलो० इति०] यह इस प्रकार स्पष्ट है:—

जे असि भगति जानि परिहरहीं।
केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहत्यागी।
खोजत आक फिरहिं पय लागी॥

केवल शब्द ध्यान देने योग्य है। इस भाँति तुलसी ने ज्ञान और भक्ति का समन्वय चरितार्थ किया। उपासना भक्ति का ही कर्म-विधानात्मक रूप है।

इसी प्रकार तुलसी के वैष्णव के व्यापक रूप में सगुण और निर्गुण की तात्विक एकरूपता पहचानी। सगुण-निर्गुण का यह समन्वय भी भक्ति और ज्ञान के समन्वय से ही सिद्ध है। ज्ञान सगुण-निर्गुण दोनों का हो सकता है, पर भक्ति के लिए तो साकार आधार की अनिवार्यता होती है। कबीर के निर्गुण राम भक्ति के विषय बन कर रहस्यमय हो गए थे, उनकी धूमिल रूपरेखा साधारण जन समाज की पहुँच के बाहर की वस्तु हो गई। पर तुलसी ने वह कर दिखाया जो कबीर से नहीं बन पड़ा था। तुलसी के आराध्य निर्गुण होते हुए भी सगुण हैं। प्रो० रामकुमार वर्मा कहते हैं—

"वे अपने ब्रह्म को अद्वैतवाद के शब्दों में तो व्यक्त करते हैं पर उसे विशिष्टाद्वैत के गुण से युक्त कर देते हैं।" देखिए—

एक अनीह अरूप अनामा।
अज सच्चिदानन्द परधामा॥
व्यापक विश्वरूप भगवाना।
तेहि धर देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी।
परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥

"यहाँ एक अनीह और अरूप ब्रह्म भक्तों के लिए अवतार लेता है।" फलतः भक्ति का उपयुक्त आधार भी बन जाता है और कबीर की रहस्यमयता की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अद्वैतवाद के रूप में तुलसी के ब्रह्म का स्वरूप देखिए—

गिरा अरथ जल बीचि सम
कहियत भिन्न न भिन्न।
× × ×
इश्वर अंश जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥
× × ×
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहम्।
चिदाकाशमाकाशवासं भजेहम्॥

यही 'निर्गुणं निर्विकल्पं' ब्रह्म अवतार लेकर सगुण-साकार हो जाता है—

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुण विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद॥

वस्तुतः सगुण और अगुण में कोई तात्त्विक भेद है ही नहीं—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥

अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

पर जो गुण रहित अज और अलख है, वह सगुण कैसे हो सकता है—

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे।
जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

तो सगुण और निर्गुण परमात्मा की स्थितियाँ विशेष हैं, दोनों में कोई व्यवधान अथवा विरोध नहीं। तुलसी ने निर्गुण की उपेक्षा नहीं की बल्कि लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो जन-साधारण के लिए सगुण की उपादेयता मात्र बतलाई। प्रो० रामकुमार वर्मा कहते हैं—

"तुलसीदास ने ब्रह्म की व्यापकता के लिए उसे अद्वैतवाद का रूप अवश्य दिया और उसे माया से समन्वित किया भी, पर वे उसे उस रूप में ग्रहण नहीं कर सके। वे भक्त थे, अतः भक्ति का सहारा लेकर उन्हें ब्रह्म को विशिष्टाद्वैत में निरूपित करना ही पड़ा।" [आ० पृ० ५०१] सुगुण रूप में ही भक्ति-सुलभ होने के कारण वे निर्गुण की सार्थकता सगुणता में ही मानते हैं। इसे व्यंजना द्वारा वे व्यक्त करते हैं—

फूले कमल सोह सर कैसा।
निरगुण ब्रह्म सगुण भए जैसा॥

फिर भी दोनों का विरोध परिहार और समन्वय उन्होंने मार्मिक ढंग से सम्पन्न किया है।

तुलसी के समन्वयवाद का तीसरा पहलू है प्राचीन परम्परागत परस्पर विद्वेषी तू-तू मैं-मैं वादी भिन्न-भिन्न प्रचलित मतों का समन्वय, जिसके आधार पर वैष्णव धर्म का वह व्यापक रूप कल्पित किया गया जिसमें शैव, शाक्त और पुष्टि मार्गी सरलता से सम्मिलित हो गए। इस सम्बन्ध में प्रो० रामकुमार वर्मा

कहते हैं—"मुसलमानी प्रभाव के अतिरिक्त तुलसीदास के सामने धर्म की समस्या विचित्र रूप में आई। उन्होंने गोंड गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल' की विषम परिस्थिति में अपनी धार्मिक मर्यादा का आदर्श उपस्थिति करते हुए अनेक मतों और पन्थों से ही समझौता किया। तुलसीदास की यह कुशल नीति थी। उनके समय में शैव, शाक्त और पुष्टिमार्गी प्रधान रूप से अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे और प्रत्येक क्षेत्र में वैष्णवों से प्रतिद्वन्द्विता कर रहे थे। तुलसीदास ने इनसे विरोध की नीति का पालन न कर उन्हें अपने ही आदर्शों में सम्मिलित कर लिया। तुलसीदास की इस सहिष्णु नीति ने धार्मिक भेदों का एकदम ही विनाश कर दिया। वैष्णवधर्म के इस सिद्धान्त संगठन ने हिन्दू धर्म को इस्लाम की प्रतिद्वन्द्विता में विशेष बल प्रदान किया।" [हि० सा० का० आ० इ० पृ० ५०७]

इस धर्म समन्वय को उन्होंने किस प्रकार पूर्ण किया, वह भी देखिए। शिव और विष्णु में अभेद बतलाने के निमित्त वे स्वयं राम के मुख से कहलाते हैं।

करिहौं इहाँ संभु थापना।
मोरे हृदय परम कल्पना॥

राम शंभु को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और शंभु भी राम की उपासना करते नजर आते हैं। राम और शिव की भक्ति एक ही कही गई है। शिव-द्रोही को राम-भक्ति नसीब नहीं।

संकर विमुख भगति चह मोरी।
सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
संकर भजन बिना नर।
भगति न पावै मोरि॥

शाक्तों से विरोध-शान्ति के निमित्त आदि शक्ति के सम्बन्ध में उनकी उक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—

नहिं तप आदि मध्य अवसाना।
अमित प्रभाव वेद नहिं जाना॥
भव भव विभव पराभव कारिनि।
विश्व विमोहिनि स्ववस विहारिनि॥

पुष्टि मार्गियों के दृष्टिकोण की भी वे उपेक्षा नहीं करते। राम-कृपा से ही प्राप्य भक्ति द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति का सिद्धान्त पुष्टि मार्ग के मूल में है। तुलसी की निम्नांकित पंक्तियों पर दृष्टिविक्षेप कीजिए—

राम भगति मनि उर बस जाके।
दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं।
जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥
सो मनि जदपि प्रकट जग अहई।
राम कृपा बिनु नहिं केहु लहई॥

राम के व्यक्तित्व में शैव, शाक्त, और पुष्टिमार्गियों के आदर्शों की पूर्ति कर तुलसीदास ने रामभक्ति में व्यापकता के साथ ही साथ शक्ति भी ला दी। शैव और वैष्णवों की विचार भिन्नता की — समाप्ति तुलसीदास की लेखनी से हुई।" (रा०कु०व०)

इस प्रकार तुलसी ने अपनी भक्ति पद्धति में सत्यं शिवं, सुन्दरं का यथायोग्य समावेश और समन्वय किया जिसमें उन्होंने जगत की रूपात्मक और क्रियात्मक सत्ता के बीच भगवान की भावमयी मूर्ति की झाँकी दिखाई। (रा०च०शु०) भक्ति के चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर भी वे लोकपक्ष को विस्मृत नहीं होने देते उनके भगवान का रूप भी जनता के सामर्थ्य की परिधि के बाहर की वस्तु नहीं होने पाती।

याग प्रधान ब्राह्मण-धर्म और नास्तिकता प्रधान बौद्ध-धर्म की क्रिया प्रतिक्रिया के प्रतिफलन रूप में शांकर अद्वैति का जन्म हुआ था जिसमें उपासना-विधि स्थूल और सर्व-सुलभ नहीं थी। तुलसी ने इसी कमी की पूर्ति की और नास्तिकता की ओर से जनता की मनोवृति हटाकर आस्तिकताकी अजस्र अमृतधारा में उन्हें स्नान कराया। भगवान साम्प्रदायिकों की वस्तु नहीं होकर सर्वसुलभ हो गए।

सेस महेस सुरेस गनेस दिनेसहु जाहि निरन्तर ध्यावै।
जाहि अनादि अनन्द अखंट अछेद अभेद सुवेद बतावै॥
नारद से सुक व्यास रटैं पचिहारे तऊ पुनि पार न पावै।
ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछपै नाच नचावै॥

—रसखान।

यह तो हुआ धार्मिक क्षेत्र में तुलसी का समन्वयवाद। पर व्यापक अर्थ में तुलसी की समन्वयशीलता का परिचय धार्मिक ही नहीं अपितु राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में भी हम पाते हैं। अतः संक्षेप में इन क्षेत्रों में भी तुलसी के समन्वयवाद का विवेचन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

पहले साहित्यिक क्षेत्र को ही लें। "गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने समय में भाषा के दो रूप प्रचलित पाए—एक ब्रज और दूसरी अवधी। दोनों में उन्होंने समान अधिकार के साथ रचनाएँ कीं।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास—रा० च० शु०) शुक्लजी पुनः कहते हैं कि ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर में पाते हैं वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में हम गीतावली और कृष्णगीतावली में पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठास हमें जायसी की पद्मावत में मिलती है वही जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल, बरवा रामायण और रामलला नहछू में हम पाते हैं। न तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का

ब्रजभाषा पर।" इससे स्पष्ट होता है कि तुलसी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनमें ब्रजभाषा और अवधी को समान रूप से अपनाने की सहिष्णुता थी। इसी प्रकार उन्होंने सभी प्रचलित रचना-शैलियों पर अपनी लेखनी का जादू दिखाया। उस समय भाषा पद्य की निम्नांकित शैलियाँ प्रचलित हो चुकी थीं—

१—वीरगाथा काल की छप्पय पद्धति।

२—विद्यापति और सूर की गीत पद्धति।

३—गंग आदि भाटों की कवित्त, सवैया पद्धति।

४—कबीरदास की नीति सम्बन्धी बानी की दोहा पद्धति जो अपभ्रंश काल से चली आती थी।

५—ईश्वरदास की दोहे चौपाई वाली प्रबन्ध पद्धति।

तुलसी ने अपनी प्रतिभा के बल से सभी पद्धतियों पर समान रूप से रचनाएँ कीं। उदाहरण द्रष्टव्य है—

१—इस पद्धति पर उनकी रचना थोड़ी होते हुए भी इनकी निपुणता की परिचायिक है—

> कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
> कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
> चरन चोट चटकन चकोर अरि उर सिर बज्जत।
> विकट कटक विद्दरत बीर वारिद जिमि गज्जत॥

२—विद्यापति और सूर की गीत पद्धति का तुलसी के हाथों और भी अधिक परिष्कार ही हुआ है। रस से पद-विन्यास का सामञ्जस्य तल्लीन है—

> जौ हौं मातु मते महँ ह्वैहौं।
> तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं?

कौशल्या के समक्ष भरत की आत्म-ग्लानि की व्यञ्जना कितनी सरल, स्वाभाविक हुई है।

तुलसी ने सूर की शैली को ही नहीं, विषय को भी अपनाया। 'कृष्णगीतावली' में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन तो किया ही है। 'गीतावली' में राम वर्णन भी सूरसागर के कृष्ण के अनुकरण पर किया गया सा ज्ञात होता है। "सूरसागर में जिस प्रकार गोपियों के साथ श्रीकृष्ण हिंडोला झूलते हैं, होली खेलते हैं, कहीं पर वे राम भी दिखाए गए हैं।" (रा० च० शु०)

३—कवित्त सवैया पद्धति के नमूने भी देखिए—

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहु दंड बीर,
धाए जातुधान हनुमान लिए घेरि कै।

× × × ×

मारे लात तोरे गात, भागे जात, हाहा खात,
कहै तुलसीदास "राखि रामकी सौं" टेरिकै।
ठहर ठहर परे, कहरि कहरि उठे,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरि कै॥

४—नीति के दोहे मानस और दोहावली में भरे पड़े हैं। देखिए एक उदाहरण—

रीझि आपनी बूझि पर, खीजि विचार विहीन।
ते उपदेस न मानहीं, मोह महादधि लीन॥

५—जायसी की भाँति दोहे चौपाई वाली प्रबन्ध-पद्धति तुलसी ने भी अपनाई, पर संस्कृतज्ञ एवं भावुक वैष्णव भक्त होने के कारण मानस का पद-विन्यास पद्मावत से अधिक सुसंस्कृत एवं मनोहर है। उदाहरण के लिए मानस का कोई भी अंश—

अमिय मूरिमय चूरन चारू।
समन सकल भवरुज परिवारू॥

संस्कृत के तत्सम शब्दों की ऐसी वासन्ती छटा जायसी में कहाँ?

वर्णित विषय के विस्तार की दृष्टि से भी तुलसी को हम समन्वयवादी कह सकेंगे। मानवजीवन के सभी पक्षों की व्यापक आलोचना अथवा विवेचन उनकी रचनाओं में हुआ है। इसी से रा० च० शु० कहते हैं कि—"भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को।"

साहित्य-क्षेत्र में हमने तुलसी की समन्वयशीलता का प्रमाण देख लिया। अब सामाजिक क्षेत्र की ओर दृष्टि फेरें। यद्यपि ये वर्णव्यवस्था के पक्षपाती थे और सामाजिक साम्यवाद के विरोधी—

वादहिं शूद्र द्विजन सम, "हम तुम तें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर," आँख देखावहिं डाँटि॥

फिर भी इन्हें हम समन्वयवादी इस दृष्टिकोण से कह सकते हैं कि इन्होंने सामाजिक विशृंखलता और अनाचार दूर कर विभिन्न वर्णों की मर्यादा का आदर्श उपस्थित कर उनमें सामञ्जस्य उपस्थित करने का प्रयास किया। समन्वय की भावना सामाजिक एकरूपता अथवा साम्य में ही अनिवार्य रूप से विदित नहीं। समन्वय का अर्थ है मिलाप, अथवा विरोध का न होना (Compromise)। मेरा विचार है कि तुलसी ने सामाजिक व्यवस्था में शान्ति और सदाचार के समावेश के निमित्त वर्णों और वर्गों की जो मर्यादा निर्धारित की, उसमें भी उनकी समन्वयवाद की मनोवृत्ति अन्तःप्रेरणा के रूप में काम कर रही थी।

राजनैतिक क्षेत्र में भी उनकी समन्वयशीलता हम इसी रूप में पाते हैं। राजा और प्रजा का वर्ग-विरोध जो हित-संघर्ष के परिणामस्वरूप आज भीषण रूप धारण कर चुका है, तुलसी ने सहज स्वाभाविक तौर से शमन करने का प्रयास किया था। राजा को जहाँ एक ओर प्रजा से अधिक अधिकार हैं और उसे

ईश्वर का अंश बतलाया गया है, वहाँ दूसरी ओर प्रजा की भलाई के निमित्त राजा भी बन्धनों से खाली नहीं है। जहाँ अधिकार है वहाँ कर्तव्य भी है! राजा का धर्म प्रजा का सुख ही है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

आज हम प्रजातन्त्र का आदर्श घोषित करते हुए अपने को गौरवान्वित मानते हैं। देखिए तुलसी के स्वर में भी उसी की गूँज है—

जौ पाँचहि मत लागइ नीका।
करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥

राजा के कार्यों के लिए प्रजा की सम्मति उन्होंने अपेक्षित मानी है। राजा-प्रजा का विरोध ही नहीं रह जाता। दोनों एक-दूसरे के पूरक, हितचिन्तक बन जाते हैं। आज स्वदेश-प्रेम के लिए हमारे तरुण वीरों को राजदण्ड दिया जाता है। मातृभूमि की स्वतन्त्रता की कामना प्रकट करना भी जुर्म है, घोर अपराध है। पर उस समय देखिए देश-भक्ति केवल प्रजा का ही गुण तुलसी ने घोषित नहीं किया, राजा तक को देश-भक्त होना अनिवार्य था। राम कहते हैं—

जद्यपि जग वैकुण्ठ बखाना।
वेद पुरान विदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।

संक्षेप में राजा को प्रजा का पालन, और दुष्टों का नाश करना चाहिए। अतः राजा-प्रजा का वर्ग-संघर्ष रह ही नही जाता। दोनों का हित एकाकार होकर सार्थक हो जाता है। इसी आदर्श की प्रतिष्ठा में तुलसी की राजनैतिक समन्वय की भावना है।



जीवन, प्रकृति और साहित्य

आधुनिक विज्ञान और समष्टिवाद के इस युग में जब मानव-जीवन की आभ्यान्तरिक बहुरूपता नष्टप्राय हो रही है, जब व्यक्तिगत जीवन सामाजिक एवं राजनैनिक सत्ता रूपी विशाल यन्त्र का कल-पुर्जा मात्र हो रहा है, इस बात की गवेषणा कि जीवन की मौलिकता एवं वास्तविकता किस ओर है कुछ विशेष महत्त्व रखती है। जीवन केवल अङ्गों का परिचालन अथवा हृत्कम्पन मात्र में नहीं है, जीवन का अर्थ केवल समाजगत निर्धारित क्रियाओं का सम्पादन नहीं है। जीवन एक कला है, एक अनुभूति है, एक अभिव्यक्ति है। अन्तर और वाह्य जगत् में व्याप्त एक गूढ़तम चिन्मय रागात्मक सत्ता की अनुभूति और विविध कार्यकलापों द्वारा उसकी अभिव्यञ्जना वास्तविक जीवन का रहस्य है। वह अनुभूति वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं का विषय नहीं, वहाँ तो केवल कार्य-कारण सम्बन्ध द्वारा पदार्थों के सत्य का निरूपण मात्र सम्भव है; और न यह दर्शनशास्त्र के पुस्तकालयों में दिन और रात बिताने वाले नीरस 'विद्वानों' के लिए सम्भव है। क्योंकि अनुभूति (raelisation) केवल सूचना (information) अथवा ज्ञान (knowledge) नहीं है। इसमें ज्ञेय वस्तु के साथ रागात्मक एकीकरण का भाव है, भावात्मक आकर्षण का तत्व भी निहित है जो केवल शुष्क 'सत्य' के शुष्क 'ज्ञान' में नहीं। ज्ञानी जानता है कि कुसुम सुन्दर है, उषाकालीन मलय-समीर में मादकता है, पक्षियों का गान मनोहर है। पर वह केवल जानता ही भर है। कुसुम की सुन्दरता, मलय-समीर की मादकता, पक्षियों का मनोहर गान उसके

अन्तर में कोई अलौकिक रस का सञ्चार नहीं कर सकते, उसके हृत्तन्त्री के तारों को कल्पना की कोमल अँगुलियों से छूकर झंकृत नहीं कर देते। उसने ग्रन्थों में प्रकृति के सौम्य, चैतन्योत्पादक प्रभाव के विषय में पढ़ा है, पर उसका प्रत्यक्ष अनुभव उसे नहीं हुआ। मानव-मनोविज्ञान के विविध पहलुओं से वह परिचित है, जन्तु-जगत के रहस्य उसे ज्ञात हैं और इसमें वह विशेषज्ञ भी है, पर उसे प्रेम और घृणा, मैत्री और वात्सल्य हर्ष और विषाद की उन भावनाओं का आत्मगत अनुभव नहीं हुआ है जो जीवन के आधारभूत तत्व हैं। और न वह प्रेम के उस एकात्मक प्रभाव को ही समझ सका है जो हिंस्र पशुओं को भी वशीभूत कर पालतू बना लेता है। जीवन की अनुभूति उसे नहीं हुई है, केवल जीवन का ज्ञान भर हुआ है। पर केवल जीवन का ज्ञान, जीवन और जगत् के विविध चित्रों और वृत्तान्तों का मानस में समीकरणमात्र तो वास्तविक जीवन नहीं है। इससे तो आत्मा की रागात्मक चेतना की अनुभूति भी नहीं सम्भव है, उसका व्यक्तीकरण तो दूर की बात है।

अतः वास्तविक जीवन का क्षेत्र प्रयोगशाला अथवा पुस्तकालय नहीं है वरन प्रकृति की गोद और समाज है। समाज में ही पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित प्रेम और घृणा, हर्ष और शोक, आशा और निराशा की भावनाओं का हमें अनुभव होता है और मनोविज्ञान के सच्चे तत्वों का हम वास्तविक रूप में परिचय पाते हैं। और प्रकृति? हमारी सर्वश्रेष्ठ शिक्षिका, हमारे भावनात्मक संसार की पालिका, हमारे आध्यात्मिक जीवन की पोषिका एवं निष्णाता, वही तो हमारे प्राणों में उस मधु का संचार करती है जिसके बिना जीवन नीरस है, और कोरे दार्शनिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान के अस्थि-पिंजर को अनुभव के तत्वों द्वारा मांसल बना उसमें रक्त का

प्रवाह भर देती है जिसके बिना ज्ञान वृथा है और जीवन अपूर्ण। सागर के विशाल जल-विस्तार का हृदय-शान्तकारक प्रभाव, पहाड़ी निर्झरों का कल-कल गीत, पक्षियों का प्रातःकालीन कल-कूजन एवं निर्जन वन-प्रान्तर में रंगविरंगे फूलों का हास क्या अपना विशेष महत्त्व नहीं रखते? प्राकृति सौन्दर्य-स्थली का प्रभाव, स्मृतिकोष में अनन्त प्राणोन्मादिनी मर्मस्पर्शी चित्रों, ध्वनियों, गन्धों और आकर्षणों को भर कर अनश्वर आनन्द की सृष्टि करना तो है ही, और यह भी न भूलना चाहिए कि जीवन की सारी दौड़-धूप इसी आनन्द के लिए होती है—पर इसके सिवा प्रकृति हमारे मन एवं इन्द्रियों की अवस्था भी उन्नत कर हमें शान्ति और सन्तोष का पाठ पढ़ाती है। हमारे मानसिक अवयवों के रागात्मक परिचालन के द्वारा हमारे अन्तर में वह सङ्गीत भरती है जो हमारी सुप्त चेतना को जगाने में समर्थ है और जिसके द्वारा हम उस चरम सत्य की अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं, जिससे आत्मा प्रदीप्त हो उठेगी, विश्व आलोकित हो उठेगा, जीवन सफल हो जायगा।

कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि प्रयोगशाला अथवा पुस्तकालय, विज्ञान अथवा साहित्य प्रकृति-जन्य सत्यों के विरोधी हैं और इसलिए व्यर्थ एवं हानिकर हैं। विज्ञान और साहित्य जीवन के लिए व्यर्थ नहीं, वरन अपूर्ण और अपर्याप्त हैं। ज्ञान में अनुभूति का सहयोग—जो वास्तविक जीवन के ज्ञान का आवश्यक रहस्य है—ये नहीं करा सकते। अनुभूति के लिए हमें प्रकृति और वास्तविक जीवन का प्रश्रय लेना होगा। तथापि विज्ञान और साहित्य का अपना महत्त्व है। विज्ञान प्रकृति के ही गूढ़तम सत्यों की विवेचना और साहित्य प्रकृति की गोद में होने वाली उन्हीं अनुभूतियों का व्यञ्जनापूर्ण चित्रण एवं अभिव्यक्ति का साधन है।

साहित्य वह दर्पण है जिसमें हम जीवन को प्रतिबिम्बित पाते हैं, जिसमें प्रकृति के विभिन्न प्रभाव (influences) छाया चित्र की भांति अमिट रूप से अंकित हैं। किन्तु केवल दर्पण से ही हमारा काम नहीं चलता। दर्पण सभ्य-संसार का एक आवश्यक उपकरण भले ही हो, पर वह जीवन का स्थान नहीं ले सकता। साहित्य सभ्यता का अनिवार्य अङ्ग है, मानव समाज का वह कोप है जिसमें प्रकृति के पल-पल परिवर्त्तित वेपविन्यास का सौन्दर्य, उसका मदिर मधु चिर-रूप से सुरक्षित रहता है। साहित्य और जीवन, साहित्य और प्रकृति में शाश्वत सम्बन्ध है। सभी की अपनी विशेषता और महत्ता है, पर एक के विना दूसरा अपूर्ण और निरर्थक है।



हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद का विकास

हमारी सभ्यता आध्यात्मिक रही है। सदा से आत्मा की पुष्टि के लिए, जीवन में पूर्णता की अनुभूति के लिए बाह्य पार्थिव-जगत् के उपकरणों की अपेक्षा अपने अन्तर के वैभव को ही हमने अधिक महत्त्व दिया है। इसी मनोवृत्ति ने हमें मानव-मानव में, मानव-प्रकृति में एवं वस्तु जगत् के विभिन्न अङ्गों में एकता की खोज करना सिखलाया, हमें दुःख में सुख, सुख में दुःख, अपूर्णता में पूर्णता और बाह्य भेदों में आन्तरिक अभेद देखने की दृष्टि दी। जब तक यह दृष्टि नहीं मिलती हमें जीवन में सन्तोष नहीं होता, हमारी आत्मा की प्यास बनी ही रहती है।

हमारे अनुसन्धान भी अधिकतर आध्यात्मिक जगत् में ही हुए हैं। तापं, प्रकाश, विद्युत् आदि शक्तियों की एकरूपता दिखला (Conservation fo Energies) 'शक्तियों की एक-रसता' के सिद्धान्त द्वारा विज्ञान वस्तुवाद की जिस सीमा तक पहुँचा है, हम उससे कहीं आगे बढ़ सके। हमने उन शक्तियों का स्रोत—आत्मा और परमात्मा की ही एकता की खोज की और उसे सिद्ध किया। फलस्वरूप दर्शन के विभिन्न वादों की सृष्टि हुई। पर कोरी दार्शनिकता हमें वह पूर्णता प्रदान न कर सकती थी, केवल बुद्धिवाद द्वारा स्थापित एकता से ही हमारे अन्तर को सन्तोष होना सम्भव न था। हमें अनुभूति की आवश्यकता थी जो दर्शन की नीरस मरुभूमि में प्राप्य न थी। यह मिली हमें काव्य की निर्झरिणी में, और जिस रूप में मिली उसे हम रहस्यवाद कहते हैं, उसकी अस्पष्ट धूमिल और रहस्यमय रूप-रेखा के कारण।

काव्यगत माधुर्यभावभरित इस रहस्यवाद का एक दार्शनिक आधार भी है। जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा के बीच जिस तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना रहस्यवाद का विषय है उसका पूर्वरूप अद्वैतवाद के सिद्धान्त में विकसित हुआ। वास्तव में तर्क और ज्ञान के स्वर में बुद्धिवाद के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही कल्पना और भावना के सहारे अनुभूति के क्षेत्र में उतर कर रहस्यवाद बन जाता है। अद्वैतवाद में केवल बौद्धिक एकता का ज्ञानमात्र है, किसी असीम शक्ति—जो सभी सीमाधीन शक्तियों का समुच्चय रूप है किसी असीम सौंदर्य, किसी असीम चेतना का परिचय भर है: पर रहस्यवाद में उसी असीम तक पहुँचने की आकुल प्रेरणा है। उस चिर-सुन्दर से एकाकार हो जाने की तड़प है; अतः रहस्यवाद दार्शनिक अद्वैतवाद से आगे का सोपान है।

काव्य के क्षेत्र में, जिसे हम रहस्यवाद कहते हैं, उसकी प्रथम अवतारणा की कबीर ने। अतः वे ही हिन्दी के सर्व प्रथम और आदि रहस्यवादी कवि हैं। उन्होंने उपनिषदों के सर्वात्मवाद या ब्रह्मवाद में—जिसमें परमात्मा को पुरुष और प्रकृति को स्त्री का रूपक दिया गया है, माधुर्य भावना अथवा दाम्पत्य प्रेम की भावना का समावेश कर के काव्यगत माधुर्यमय रहस्यवाद को जन्म दिया। क्योंकि श्री श्यामसुन्दरदास के शब्दों में, "माधुर्य भाव इसी का भावुक रूप है जिसमें परमात्मा की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है और जगत के नाना रूप स्त्री रूप में देखे जाते हैं। (कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ५७) कबीर ने भी उस असीम प्रियतम के सामने जीवात्मा को स्त्री ही माना है। देखिए—

"लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी होगई लाल॥"

अथवा—

"पिउ मिलन जब होइगा, आँगन भया विदेस॥"

अथवा—

"कहैं कबीरा ब्याहि चले हैं पुरुष एक अविनाशी"

इस अन्तिम उद्धरण, में हम साँख्य दर्शन की स्पष्ट छाप पाते हैं।

कवि की आध्यात्मिक वेदना की तीव्रता भी कम नहीं। उसे प्रियतम का विरह असह्य हो रहा है :

"कै विरहन के मीच दै कै आपा दिखलाय।
आठ पहर का दाझना मो पै सहा न जाय॥"

वह अपने 'पीव' के दर्शन के लिए सब कुछ कर सकता है—

"येहि तन का दिवला करो बाती मेलों जीव।
लोहू संचों तेल ज्यों कब मुख देखों पीव॥"

उसकी दशा ओदी लकड़ी के समान है—

"बिरहिनि ओरी लाकड़ी सपचै औ धुँधुआय।"

पर उसकी यह दशा उसके सिवा और कौन जानता है :

"हिरदै भीतर दवि वलै, धुँआ न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोय।"

फिर भी उसे अपनी इस वेदना से ममता है। वह विरह का मूल्य जानता है—

'विरहा बिरहा मत कहो, बिरहा है सुलतान।
जा घट बिरह न संचरै सो घट जान मसान।"

कबीर को प्रियतम का दर्शन नहीं होता है। शायद वे भूल गए हों। कवि उन्हें सुध दिलाता है—

"सुरति करौ मेरे साइयाँ हम हैं भवजल माहिं।"

क्योंकि—

"हम-से तुमरे बहुत हैं, तुम सम हमरे नाहिं।"

कबीर अपने प्रियतम को रामनाम से भी पुकारता है। पर

उसके राम दाशरथी राम नहीं हैं। उनके लिए राम विश्वव्यापी अनन्त परमात्मा का पर्यायवाची है। देखिए—

"निरगुन निरंकार के पार परब्रह्म है,
तासु को नाम रंकार जानी।

× × ×

रूप बिन रेख बिन निगम अस्तुति करै
अन्त की राह अनकथ कहानी॥"

कबीर का राम, कबीर का प्रियतम कहीं बाहर नहीं रहता, वह तो उनके अन्तर का ही वासी है। उसके लिए व्यर्थ भटकने की आवश्यकता ही क्या?

"तेरा साँई तुज्झ में ज्यों पुहुपन में बास।
कानन का मिरग ज्यों फिर-फिर ढूंढै घास॥
रेख रूप जेहि है नहीं, अधर धरो नहिं देह।
गगन मण्डल के मध्य में रहता पुरुष विदेह॥"

इसके पाने की विधि भी वह बतलाता है। वह मार्ग हठयोग का मार्ग है जिसमें यौगिक क्रियाएँ हैं, कुण्डलिनी, षट्-चक्र और सुन्न मंडल हैं, अजपा और अनाहत की अवस्थाएँ हैं। "पलकों की चिक डारि कै" और समाधि लगा कर ही प्रियतम को रिझाया जा सकता है। सच पूछिए तो कबीर का रहस्यवाद, वस्तुतः रहस्यवाद नहीं है। क्योंकि यद्यपि उनकी कविताओं में गम्भीर शृंखलाबद्ध दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण हम नहीं पाते, फिर भी उनकी अधिकांश कविताएँ दार्शनिकता से इतनी बोझिल हैं कि उनमें भावना का वह उत्कर्ष सम्भव न हो सका जो हमें आगे चल कर देखने को मिलेगा। श्री महादेवी वर्मा के शब्दों में "योग का रहस्यवाद इन्द्रियों को पूर्णतः वश में कर के आत्मा का कुछ विशेष साधनाओं और अभ्यासों द्वारा इतना

ऊपर उठ जाना है जहाँ वह शुद्ध चेतन से एकाकार हो जाता है।""""कवीर का रहस्यवाद यौगिक क्रियाओं से युक्त होने के कारण योग परन्तु आत्मा और परमात्मा के मानवीय प्रेम-सम्बन्ध के कारण वैष्णव युग के उच्चतम कोटि तक पहुँचे हुए प्रणय-निवेदन से भिन्न नहीं।""""कबीर के रहस्य भरे पद हमारे हृदय को स्पर्श कर सीधे बुद्धि से टकराते हैं। अधिकतर इनमें उसके विचार ध्वनित हो उठते हैं, भाव नहीं जो गीत का लक्ष्य है।" ('सान्ध्यगीत' की भूमिका से)।

इन्ही कारणों से हम कवीर को उत्कृष्ट रहस्यवादी कवि नहीं कह सकते क्योंकि उनमें वह रागात्मक आकर्षण की तीव्रता अभी पूर्ण विकसित अवस्था में नहीं है जो रहस्यवादी कविताओं का प्राण है। मीरा में यह तीव्रता प्रेम, की यह 'पीर' अपनी सीमा तक पहुँची हुई है।

"हेली मैं तो प्रेम-दिवानी री",

वह अपनी मस्ती में कह उठती है। पर उसकी उपासना साकार ईश्वर की थी। वह कहती है—

"मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।"

पर यह गिरिधर गोपाल नन्द के घर में रहने वाले रास रचाने वाले कन्हैया ही थे। अतः हम मीरा को रहस्यवादियों की पंक्ति में नहीं रख सकते।

कबीर के पश्चात् माधुर्यभावभरित रहस्यवाद के क्रमिक विकास में यदि किसी का स्थान आता है तो वह प्रेममार्गी सूफी कवियों का। श्री महादेवी वर्मा कहती हैं—"सूफी मत के रहस्य-वाद में अवश्य ही प्रेमजनित आत्मानुभूति और चिरन्तन प्रियतम का विरह समाविष्ट है।" जहाँ कबीर का रहस्यवाद चिन्तन प्रधान था वहाँ जायसी आदि सूफी सन्तों के रहस्यवाद

में भावना का प्राधान्य है। वहाँ यौगिक क्रियाएँ नहीं हैं केवल प्रेम की व्यंजना है। आत्मा और परमात्मा के बीच इस प्रेम-सम्बन्ध को इन कवियों ने लौकिक कथानकों के रूप में अभिव्यक्त किया है और उसे एक निर्णीत शैली का रूप दिया है। इन भारतीय प्रेममार्गी रहस्यवादी कवियों पर भारतीय दर्शन और सूफी मत के 'इश्क' दोनों का प्रभाव पड़ा है। अतः इनकी कविताएँ दोनों प्रकार के प्रभाव से अनुरञ्जित हैं। यदि इस बात पर विचार किया जाय कि इन प्रेमाख्यानक कवियों को भी सूफी मतावलम्बियों की ही भाँति उनके 'मजनू के लिए अल्लाह भी लैला नजर आया' अथवा भारतीय पद्धति के अनुसार ईश्वर को प्रियतम और भक्त को प्रियतमा का रूप दिया तो इस बात की सत्यता और भी स्पष्ट हो जायगी। क्योंकि इन कथानकों के अध्ययन से दोनों प्रकार के उत्तर समर्थित किये जा सकेंगे। क्योंकि, न केवल प्रेमिका ही अपने प्रेमी के प्रेम में व्याकुल चित्रित की गई है किन्तु प्रेमी भी 'प्रेम की पीर' लिये योगी बन कर अपनी प्रेमिका की तलाश में नगरों और जङ्गलों की खाक छाना करता है।

स्मृतियाँ जन्म-जन्म की
खिलती थी सुमनावली बनी ।"

('विशाख' से)—'प्रसाद'

श्री रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"सूफ़ियों के अनुसार सारा जगत् एक ऐसे प्रेम-सूत्र में बँधा है जिसका अवलम्बन करके जीव उस रहस्यमय प्रेममूर्ति तक पहुंच सकता है।" सब रूपों में उसी की छिपी ज्योति है। ईश्वर का विरह ही इन सूफ़ी साधकों की प्रधान सम्पत्ति मानी गई है। उदाहरण—

"विरह अवधि अवगाह अपारा।
× × ×
विरह कि जगत अबिरथा जाहीं।
विरह-रूप यह सृष्टि सबाहीं॥"

('मधुमालती' से)

पद्मावत में भी 'प्रेम की पीर' और उसकी साधना की कठिनाइयों की पूर्ण अभिव्यक्ति है। और सारे ग्रन्थ में यह एक विस्तृत रूपक की धूमिल रूप-रेखा है। प्रमाणस्वरूप में ग्रन्थ की अन्तिम पंक्तियों का उल्लेख यथेष्ट होगा।

"तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सूआ जेहे पन्थ दिखावा।
बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धन्धा।
बाँचा सोइ न यही चित बाँधा॥
राघव दूत सोई सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू॥"

रामकुमार वर्मा के शब्दों में "सारी कथा के पीछे सूफ़ी सिद्धान्तों की रूप-रेखा है पर जायसी इस आध्यात्मिक संकेत

को पूर्णरूप से नहीं निबाह सके हैं। कथानक के अत्यधिक विस्तार, स्थल-स्थल पर विलासमय वर्णन और कहानी के प्रवाह में आध्यात्मिकता की अन्तर्धारा विलुप्त-सी हो गई है।" बात भी ठीक है। सच्ची रहस्यवादी कविता का स्वरूप गीति काव्यों में ही मुखरित हो सकता है। रहस्यवाद आत्मानुभव की वस्तु है। अपने निजी जीवन की अनुभूतियों का विषय है। अतः इसे प्रबन्धात्मक रूप देने में इसके वास्तविक रूप-रेखा के बिखर जाने की सम्भावना सदा रहेगी ही। इसीलिए हम देखते हैं कि रहस्यवाद का पूर्ण विकास गीति काव्य के इस वर्तमान युग में ही सम्भव हुआ है।

हाँ, जहाँ व्यक्तिगत काव्यात्मक वर्णन की बातें हैं, वहाँ जायसी के हाथों भी रहस्यवाद का वास्तविक रूप प्रस्फुटित हुआ है। पद्मिनी के रूप-वर्णन में ही देखिए। यहाँ उस अनन्त सौन्दर्य की ओर जिसके विरह में सारी सृष्टि व्याकुल-सी है, बड़े ही सुन्दर संकेत हैं। जैसे—

"बरुनी का बरनों इमि बानी।
साधे बान जानु दुइ आनी॥
उन बानन्ह अस को जनु मारा।
बेधि रहा सगरौ संसारा॥

"सगरौ संसारा"—इन शब्दों का अपना महत्त्व है। और भी देखिए—

"बरुन बान अस ओपहँ, बेधे रन, बन, ढाँख।
सौजहिं तन सब रोआँ, पंखिहि तन सब पाँख॥

पर व्यक्तिगत काव्य के ऐसे स्थल पद्मावत या अन्य प्रेमाख्यानक ग्रन्थों में कम ही हैं, आधिक्य एवं प्राधान्य तो प्रबन्धात्मक वर्णन का ही है। अतः ये काव्य-ग्रंथ भी विशुद्ध

रूप से रहस्यवाद के ही नहीं कहे जा सकते। हाँ, उनमें रहस्यवाद अवश्य है, और उच्च कोटि का है।

विशुद्ध, विकसित, परिमार्जित रहस्यवाद का काल तब आरम्भ होता है, जब हिन्दी के तरुण साहित्यकारों ने द्वार खड़े नवयुग की पुकार सुनी, जब प्रगति के समीर ने हलके झोकों से उनकी तन्द्रिल पलकें खोल दीं। बंगला-साहित्य-क्षेत्र में कवीन्द्र रवीन्द्र की रहस्यवादी कविताओं की तूती बोलती थी। इधर अङ्गरेजी शिक्षा के प्रचार ने और वर्डस्वर्थ (Wordsworth) जैसे रोमांचक (Romantic) कवियों की रचनाओं का एक नवीन द्वार भारतीय कवियों के लिए खोल दिया। हिन्दी काव्य में आधुनिक युग का उन्नत रहस्यवाद इन्हीं मिश्रत प्रभावों द्वारा प्रसूत है। आधार पुराना ही रहा, पर उसी पर एक नये काव्य-प्रासाद का निर्माण किया गया। वही अद्वैतवादी सिद्धान्त, वे ही दार्शनिक उपकरण वही 'प्रेम की पीर', वही आध्यात्मिक प्रणय नए सिरे से, नई शैली द्वारा नए रूप में सजा कर रक्खे गए। कबीर उपदेशक थे, उनके रहस्यवाद में बुद्धिवाद का मिश्रण था; सूफ़ी कवि-गण आख्यानक और प्रबन्ध-काव्य के लेखक थे, और उनकी कविता में रहस्यवाद के सरस छींटे यत्र-तत्र ही मिलते हैं, पर आज की रहस्यवादी कविता गीतिमय हो गई है। उसमें चिन्तना का नहीं, भावना और अनुभूति का प्राधान्य है! हृदय के सजल, सरल और सरस भाव मुक्त रूप से गेय मुक्तकों में अभिव्यञ्जित हैं।

आज भी विरह-वेदना है, आज भी 'प्रेम की पीर' है, पर उसकी तीव्रता अधिक मर्मस्पर्शिनी है। आज का कवि युगों की मञ्जिल पार कर उत्कर्ष के उस ज्वलित विन्दु पर पहुंचा हुआ है, जहाँ विरह इतना तीव्र हो जाता है कि मिलन और विरह के भेद का भाव तक अशेष हो जाता है। प्रकाश का अत्याधिक्य

भी तो अन्धकार है। विरह की सीमा भी तो मिलन की अनुभति में परिणत हो जाती है। श्री महादेवी वर्मा जो स्वयं वर्त्तमान युग की वेदना प्रधान, रहस्यवादी कवियित्री हैं, स्वयं अपनी रचनाओं के विषय में कहती हैं—"नीरजा और सान्ध्यगीत मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे, जिसमें अनायास मेरा हृदय सुख-दुख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगा। × × × अन्त में अब मेरे मन ने न जाने कैसे उस बाहर-भीतर में एक सामञ्जस्य-सा ढूँढ़ लिया है, जिसने सुख-दुख को इस प्रकार बुन दिया कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।"

आज का कवि सुख और दुःख दोनों को समान रूप से चाहता है—

"जग पीड़ित है अति सुख से।
जग पीड़ित है अति दुख से॥
जीवन में हिलमिल जावें,
सुख दुख से औ' दुख सुख से॥"

—'पन्त'

सुख-दुख में समता ही तो सफल जीवन की कुंजी है। यही तो आत्मा की प्यास मिटाने के लिए सुधाविन्दु है। मानव जिसे युगों से खोज रहा था, वह आज काव्य के क्षेत्र में रहस्यवाद के रूप में मिला। आज ही "जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसका ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जग उठा" है।

—महादेवी

महादेवी के ही शब्दों में "आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं......उसने परा-विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्कमय बना सके।" उदाहरण स्वरूप उन्हीं की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"एक करुण अभाव में चिरतृप्ति का संसार संचित।
एक लघुक्षण दे रहा निर्वाण के वरदान शत-शत;
पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में॥
कौन तुम मेरे हृदय में।"

अथवा—

बीन भी मैं हूँ तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
दूर हूँ तुमसे अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।
तार भी आघात भी झंकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी।
अधर भी हूँ और स्मिति की चाँदनी भी हूँ॥"

राय कृष्णदास नीरजा की भूमिका में लिखते हैं कि "कवि की (महादेवी की) आत्मा मानो इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। उसकी दृष्टि से विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक शोभा-सुषमा एक अनन्त अलौकिक चिर सुन्दर की छाया मात्र है। इस प्रतिबिम्ब-जगत् को देख कर कवि का हृदय उसके सलौने बिम्ब के लिए ललक उठा है। × × × उसी एक का स्मरण, चिन्तन एवं उसके तादात्म्य होने की उत्कण्ठा महादेवीजी की कविताओं का प्राण है।"

देखिए उस अलौकिक चिर-सुन्दर का एक सुन्दर चित्र—

"लय गीत मदिर गति ताल अमर,
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर।
आलोक तिमिर सित असित चीर,
सागर गर्जन रुन-झुन मँजीर।
उड़ता झंझा में अलक जाल,
मेघों में मुखरित किंकिणि स्वर।
रवि शशि तेरे अवतंश लोल,
सीमन्त-जटित तारक अमोल।
चपला विभ्रम, स्मिति इन्द्रधनुष,
हिमकण बन झरते स्वेद-निकर।
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर!"

यदि ऐसी अनन्त छवि के दर्शन की उत्कण्ठा से कवि की आत्मा विह्वल हो कह उठे—

"तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है।
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर।
आज मेरे श्वास घेरे॥"

('सान्ध्यगीत' से)

तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? और उसके पाने के लिए जितना भी कष्ट झेलना पड़े थोड़ा ही है। प्रेम के मार्ग में काँटे भी फूल बन जाएँगे—

"प्रिय-पथ के ये शूल मुझे, अति प्यारे ही हैं।
चल ज्वाला के देश जहाँ अंगारे ही हैं॥"

कवियित्री का हृदय दुःखों से घबराता नहीं, विरह से उसे डर नहीं लगता, बल्कि उसमें इतना साहस है कि वह कहती है—

"विरह की घड़ियाँ हुईं अलि,
मधुर मधु की यामिनी-सी !"

बन्धन भी उसे प्रिय ही है।

"क्यों मुझे प्रिय हो न बन्धन !
स्मृति पटल पर कर रहा अब वह स्वयं निज चित्र अङ्कन !"

पर यह तो वर्त्तमान रहस्यवाद का एक रूप हुआ। क्योंकि हमारी कविता आज अनेक रूपों में पल्लवित, पुष्पित हुई है। यद्यपि वस्तु एक है, धारा वही है, प्रवृत्तियाँ अभिन्न ही हैं, तथापि भिन्न-भिन्न कवियों ने आधुनिक रहस्यवाद को विभिन्न क्रमों तक पहुँचाया है। किसी में अनन्त प्रियतम के विरह की वेदना भर है, जिसके फल स्वरूप उसकी आत्मा बेजार आँसू बहाया करती है। जैसे—

"आह! यह मेरा गीला गान,
वर्ण-वर्ण है उर की कम्पन,
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन,
चरण-चरण है आह!"

—'पन्त'

कैसी मार्मिक पीड़ा है।

"करुण है हाय! प्रणय,
नहीं दुरता है जहाँ दुराव!
करुणतम भग्न हृदय,
नहीं भरता है जिसका घाव!
हृदय रो, अपने दुख का भार! आदि

—'पन्त'

अथवा रामकुमारजी की ये पंक्तियाँ—

"करुणा का गहरा गुञ्जार।
जिसमें गर्वित विश्व पिघल कर बनता है आँसू की धार"

कहीं इसी वेदना ने प्रिय मिलन में असफलता के कारण निराशावाद का रूप ले लिया है—

"ओ उन्मादी ! रो लेने दे क्षण भर मुझे अकेला !
इस यौवन के उषाकाल में छिपी साँझ की वेला !"

—चकोरी

कहीं वेदना का ही गरल पीते-पीते कवि वेदना को ही प्यार करने लगा है—

"वेदने तू भी भली बनी ।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी ।"

× × ×

"न कर वेदना सुखसे वंचित बढ़ा हृदय हिल्लोल ।"

—गुप्त

उर्मिला की उपर्युक्त वाणी में युग के प्रतिनिधि कवि की आत्मा बोल रही है ।

इसी प्रकार कहीं कवि अनुभूति की उस सीमा तक पहुँच चुका है, जब सुख और दुःख, मिलन और विरह दोनों उसके लिए बराबर ही हैं । इसके उदाहरण दिये जा चुके । और भी दिये जा सकते हैं—

"वह हँसी और यह आँसू,
घुलने दे मिल जाने दे ।
बरसात नई होने दे,
कलियों को खिल जाने दे ॥"

'आँसू' (प्रसाद)

जयशंकर 'प्रसाद' ने अपनी विमल काव्य साधना द्वारा आधुनिक रहस्यवाद को बहुत ऊँचा पहुँचाया है । आज का रहस्यवाद उत्कृष्टतम है, क्योंकि इसमें स्थूलता अशेष हो चुकी है,

लौकिकता का आधार भी न रहा, यहाँ तक कि आध्यात्मिक विरह-निवेदन में प्रेम की अपार्थिवता के कारण माधुर्यभावभरित दाम्पत्य सम्बन्ध में विजातीयता की भी आवश्यकता न रह गई। 'प्रसाद' जी के प्रियतम भी पुरुष हैं और अपने लिए भी वे पुलिङ्ग क्रियाओं का ही व्यवहार करते हैं। एक ही उदाहरण यथेष्ट होगा—

"शशि मुख पर घूँघट डाले,
अञ्चल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए।"

'घूघट डाले' और 'तुम आए' का समन्वय इस दृष्टि से विचारणीय है।

ये रहस्यवाद की विविध अवस्थाएँ हैं। वस्तुतः हम देखते हैं कि रहस्यवाद वर्त्तमान काल में ही अपनी समुन्नत एवं उत्कृष्ट अवस्था तक पहुँचा है। यह वर्त्तमान युग की अमूल्य निधि और अनुपम देन है, भविष्य की सुवर्णाशा है। तरुण-हृदयों को यह सदा अपनी धूमिल मन्दाकिनी से अनुप्राणित करता रहेगा।



प्रगतिशील साहित्य

साहित्य विश्व-मनव की चेतना का स्पन्दन है, विश्व-हृदय के रागविरागों की बाँसुरी है। यह वह दर्पण है जिसमें विश्व-जीवन युग की छाप लिए प्रतिबिम्बित होता रहता है, और वह ध्रुव की आलोक-रश्मि भी जिसके संकेत पर युग-युग का पथिक मानव अपनी अथक जीवनयात्रा की दिशा निर्णीत करता है। साहित्य जहाँ एक ओर मानवता की अतीत अनुभूतियों का अक्षर कोप है, वहाँ दूसरी ओर वर्तमान का सम्बल और भविष्य की प्रेरणा भी। पर इन सभी बातों की तह में एक अनिवार्य तथ्य है, और वह यह कि साहित्य अखिल मानवता की सम्पत्ति, मानव-मात्र की विभूति है। उस पर किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष का 'कापी राइट' नहीं।

जैसे जीवन सभी का है, जीवन के सुख-दुख सभी के हैं, वैसे ही साहित्य भी सभी का है। संसार के जिस कोने में भी, जहाँ भी, मानव-हृदय स्पन्दित होता है, वहीं साहित्य की सामग्री है, चाहे वह मानव पूंजीपति हो चाहे श्रमिक, धनिक हो या ग़रीब, राजा हो या भिखारी। सभी को साहित्य-मुकुर में अपने जीवन की परछाईं देखने का समान अधिकार है, सभी को साहित्य के नन्दन-कानन की सुरभि ले अपने श्रमशिथिल प्राणों में उत्तेजना भरने का बराबर हक़ है, और सभी के लिए साहित्य-वीणा के माध्यम से अपने अन्तर की आकुल पुकार को व्यक्त करने में समान औचित्य है। पर यह तो आदर्श है। वास्तव में, जीवन की यथार्थ भूमि पर, हम देखते क्या हैं?

हमारी आँखों के सामने एक अजीब नज़ारा है! हम देखते हैं, जिस प्रकार सामान्य जन-जीवन पर—जो आदर्श के अनुसार, न्यायतः निर्बन्ध, मुक्त एवं सुलभ होना चाहिए था, कुछ एक वर्ग-विशेष के लोगों ने पूर्णाधिपत्य स्थापित कर लिया है—अथवा सदा से करते आए हैं—उसी प्रकार साहित्य पर भी अब तक उस वर्ग ने सदा ही अंकुश रखने का प्रयत्न किया है। जो जीवन में भौतिक रूप से अधिक सबल है, जिनके पास धन है, पूंजी का बल है, राज्य की सत्ता है, उन्हीं का वर्ग अभी तक सभी देशों और सभी कालों में सामाजिक जीवन का नियमन करता आया है। यह नियमन वह वर्ग अपने स्वार्थों के ही अनुरूप करता है, यह इतिहास और प्रत्यक्ष वर्त्तमान दोनों प्रमाणित कर रहे हैं। इसमें जीवन के अन्य उपकरणों की ही भाँति साहित्य को भी उन्होंने अपने स्वार्थों की सिद्धि का साधन बनाया है। सदा से कवि की वाणी और लेखकों की क़लम के सामने सत्ता किरीच लिए खड़ी रही है जिसका फल यह हुआ है कि विश्वात्मा के प्रतिनिधि उन कवियों के मुख से निःसृत युगवाणी बहुत कुछ सत्ताधारियों के विलास-वासना के कोलाहल से विकृत हो गई है। और इस प्रकार दुनिया सच्चा साहित्य पाने से वञ्चित रखी गई है। साहित्य, जो समानरूपेण सभी की संपत्ति है, उस पर किसी वर्ग-विशेष का अधिकार न हो, वह सत्ता के इङ्गित में बँध कर न चले, वरन् निर्जन वनप्रान्त में मुक्त निर्झरिणी के समान उसकी धारा रूढ़ियों के कगारों को तोड़ती-फोड़ती हुई सहज भाव से प्रवाहित हो, यही प्रगतिवाद का उद्देश्य है। प्रगतिवाद साहित्य को सर्वसाधारण की वस्तु बनाना चाहता है। प्रगतिवाद साहित्य को उस वन्य प्रकृति के रूप में देखना चाहता है जहाँ सभी का निर्बाध प्रवेश हो, उस राजवाटिका के रूप में नहीं जो किसी व्यक्ति विशेष की विलास-

साधना के अनुकूल प्रहरियों द्वारा रक्षित हो। प्रगतिशील साहित्य वही है जो मानवता की दृष्टि से लिखा गया हो, जिसमें मानव-मात्र की—धनिक-निर्धन, श्रमिक-किसान, राजा-प्रजा, सभी की अनुभूतियों का चित्रण हो। आर्त्त किसानों का करुण-क्रन्दन, दलितों के दिल में क्रान्ति की जलती चिनगारी और प्रेम तथा वैभव के केलि-कुञ्ज में यौवन की मधु-क्रीड़ा—सभी का इसमें स्थान होगा। वास्तविक प्रगति तो इसी में है, साहित्य की विश्वव्यापकता में। पर एक बात याद रखने की है—संसार में आधिक्य दलितों, दीन दुखियों, श्रमिक-किसानों का ही होने के कारण सच्ची प्रगतिशीलता का यह भी तकाज़ा है कि साहित्य में आधिक्य उन्हीं भावनाओं का हो जो निम्नतर श्रेणी के लोगों के हृदय में अथवा जनसाधारण के अन्तर में उठती हों। जनता-का चेतना-समुद्र जिन लहरों से आन्दोलित होता हो उन्हीं की अखंड ध्वनि साहित्य-शृंगी के निर्घोष में स्वरित हो क्योंकि साहित्य जनता की अनुभूतियों का भी विषय है, केवल धनिकों की विलास-क्रीड़ा का उपकरण नहीं।

मैं उस साहित्य को साहित्य मानने को तैयार नहीं जो जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा करता हो, जो सामाजिक जीवन के संघर्षों, जन समूह की आशा-आकांक्षाओं, स्वप्नों-विचारों, हर्ष-रुदन की भावनाओं का सच्चा मार्मिक चित्र खींचने के बदले एक काल्पनिक, 'स्वप्निल', मधुमय संसार में पलायन के हेतु मानव को प्रेरित करता है। समाज में उथल-पुथल मची हो, राष्ट्र मिट रहे हों, दीन-दुर्बल जनता कुचली जा रही हो, पददलित मानवता अन्तिम सांसे भर रही हो और हमारे साहित्यिक प्रेम का माया-लोक बसावें, मधुचर्चा तथा स्वप्न-कल्पना की छाया में प्राणों की आकुलता मिटाने का स्वांग रचें! कैसी विडम्बना!! साहित्य

की प्रकृति और स्वरूप-निर्णय के लिए मापदंड जनता है, मुट्ठी भर विलासी धनिक नहीं।

पर आज तक साहित्य में इन्हीं धनिकों की प्रधानता रही है। जो साहित्यकार लक्ष्मी के कृपा-पात्र संस्कारवश तथा वैभव से वंचित साहित्य-स्रष्टा रोटियों के लिए धनिक वर्ग पर निर्भर होने के कारण, सदा से एक वर्ग विशेष की ही भावनाओं का चित्रण करते आए हैं। नाटकों और महाकाव्यों के नायक थोड़े ही दिन पहले तक राजकुमार अथवा देवता ही होते आए हैं। नायिकाएँ या तो स्वर्ग की परियाँ रही हैं या लोकविश्रुत कुल की राजकन्याएँ! कालिदास-भवभूति से लेकर तुलसी और सूर तक यही बात है। जन-जीवन के चित्रण की ओर हमारे साहित्यिकों को ध्यान देने का अवकाश ही कहाँ मिला। रामायण और महाभारत में भी राजवंशों का ही चित्र है। यदि केवट और शवरी आते भी हैं तो अपने प्रकृत रूप में नहीं, राम के व्यक्तित्व से अभिभूत भक्त के रूप में। वीरगाथाकाल तो राजाश्रय में पलने वाले कवियों द्वारा आश्रयदाता राजाओं के गुणगान का समय ही था और रीतिकाल विलासिता की सामग्री जुटाने का। धार्मिक काल में कबीर आदि द्वारा प्रवर्त्तित सन्त मत की धारा में दर्शन और उपदेश अधिक है, जनता के तत्कालीन जीवन का वास्तविक कलात्मक चित्रण कम। मानव-मनोरागों की व्यञ्जना का वह उपयुक्त तेज नहीं। जायसी आदि का प्रेम-काव्य भी राजकुमार-राजकुमारियों की प्रेम-कहानी लेकर ही आगे बढ़ा है। राम और कृष्ण-काव्य के राम और कृष्ण अवतार की असाधारणता लिए हैं। आश्चर्य तो यह है कि भगवान को अवतार भी राजकुल में ही लेना उचित जँचा। कृष्ण ने जन्म कारागार में लिया भी तो बाल्य-जीवन नन्द की वैभव-शाला में बिताने को भाग निकले। क्या दुष्यन्त

है। और यह आक्षेप एक हद तक है भी ठीक, पर सर्वांश में नहीं।

बात यह है कि साहित्य अपने युग का प्रतिबिम्ब हुआ करता है। तत्कालीन समाज की भावनाओं-आन्दोलनों का ही सहारा ले युग-साहित्य मानव की चिर-प्रवृत्तियों को भी व्यक्त करता है। चिर और अचिर का यह सुन्दर सामञ्जस्य है। मुसलमानी आक्रमण और अनाचारों की प्रतिक्रिया के रूप में धार्मिक युग का साहित्य बना था। आज भी यदि प्रगतिवाद के मूल में कोई राजनीतिक कारण हो तो इसमें न तो आश्चर्य है और न अनौचित्य; क्योंकि राजनीति वर्त्तमान जीवन का आवश्यक अङ्ग है।

साहित्य में प्रगतिवाद का जन्म ही जन-समूह की राजनीतिक चेतना के फलस्वरूप हुआ। चिर-सुपुप्त मानवता ने मुट्ठी भर धन-कुबेरों के इशारे पर नाचने से इनकार कर दिया। जनता ने अपने जीवन की बागडोर स्वयं अपने हाथों में ली और अपने शोषक सत्ताधारियों के विरुद्ध इन्क़लाब घोषित किया। पथ-प्रदर्शन मार्क्स और ऐंजिल्स कर गए थे। रूस में लेनिन इस जनजागरण के नेता बने और एक नई मानवता के निर्माण में आज रूस लगा है। साहित्य मे भी जनता के हृदय में उठती इन लहरों का प्रतिबिम्ब पड़ा और फलस्वरूप प्रगतिवाद का जन्म हुआ। अतः प्रगतिवाद निश्चय ही मार्क्स के वर्ग-युद्ध पर अपना आधार रखता है। इसी हेतु उसमें संसार की मानवता को कुचलने वाले, अब तक उसे पददलित रखने वाले धनिक-वर्ग के प्रति तीव्रता एवं कटुता अपेक्षित ही है।

प्रगतिवाद का इस दृष्टि से 'वाद' के रूप में एक छोटा-सा इतिहास है। १९३५ में लन्दन में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। "इसके पाँच मूल प्रवर्तकों में डा० मुल्कराज

आनन्द और श्री सज्जाद ज़हीर भी थे। सर्व प्रथम सम्मेलन १६३५ में पेरिस में ही हुआ था। सभापति थे सुप्रसिद्ध उपन्यास-कार ई० एम० फौरेस्टर। भारत में, १६३६ में प्रेमचन्द के सभा-पतित्व में इसका पहला अधिवेशन लखनऊ में हुआ और दूसरा १६३६ में कलकत्ते में। रवीन्द्र ने सभापति का आसन ग्रहण किया था।

भारत में हम प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ तक को प्रगति-शीलता के हामियों में पाते हैं। भारत में आकर प्रगतिवाद की रूप-रेखा कुछ बदल भी गई है। इसमें भावना और आध्यात्म का भी मेल हो गया है। मार्क्सवाद पर आधारित यूरोपीय प्रग-तिवाद 'सत्य' की वेदी पर 'सुन्दर' की उपेक्षा भी कर सकता था और करता था। एक राजनीतिक प्रतिक्रिया द्वारा प्रसूत होने के कारण उसमें एकांगिता अवश्य थी—यथार्थ के चित्रण में वह इतने हद तक जाता था कि साहित्य का महत्त्व और काव्य का काव्यत्व उसमें अशेष हो जाता था। इसीलिए प्रगतिवाद को मधु चाटने और फूलों की रूह सूंघने वालों ने बदनाम किया—उस पर साहित्यिक कला का गला घोंटने का आक्षेप किया। पर भारत में आकर प्रतिक्रिया का रोष ठंढा हो चुका है। आशा है भारती भावात्मक प्रगतिवाद जनता की वास्तविक जीवन-अनु-भूतियों का चित्रण ही लक्ष्य बनाकर मानवता का नया साहित्य प्रस्तुत करेगा।



गुप्तजी की प्रगतिशील-भावना

साहित्य में प्रगतिशीलता एक उगते हुए राष्ट्र की जीवन-शक्ति है। प्रगतिशील साहित्यकार की लौह-लेखनी द्वारा उसके राष्ट्र की आशा-आकांक्षाओं, आदर्शों, प्रेरणाओं को वाणी मिलती है; इसी वाणी में युगधर्म मुखरित होता है।

प्रगतिवाद की कोई निश्चित रूपरेखा नहीं हो सकती, यद्यपि इसे आजकल पाश्चात्य मार्क्सवाद पर आधारित माना जा रहा है। युग के साथ ही प्रगतिशीलता की भावना में भी परिवर्तन होता ही है। किसी युग विशेष में प्रगतिशील भावना हम उसे ही कहेंगे जिसके द्वारा उस युग में राष्ट्र की सामूहिक उन्नति में प्रगति मिले, विश्व की उन्नतोन्मुख शक्तियों कोजीवन मिले, इस दृष्टि से आज से सदियों पहले जो प्रगतिशील था उसमें हम आज प्रतिक्रियावाद की सड़ी गन्ध पा सकते हैं, और जो कल कल्पनातीत था, असाधारण था, व्यावहारिकता की परिधि के परे था, वहीं आज के प्रगतिवाद का आदर्श भी हो सकता है।

प्रगतिवाद निश्चय ही वीरत्व की भावना पर अवलम्बित है। सदियों की अथक यात्रा के फलस्वरूप मानव की वीरभावना भी आगे बढ़ी है। यह प्रगति हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में भी अलक्ष्य नहीं। आज हम वीरगाथा अथवा चारण काल के कवियों की भाँति प्रेमिकाओं के लिए होने वाले युद्ध के वर्णन में वीरता का आभास नहीं पाते और न केवल क्रूर करवाल को रिपु-रुधिर से प्लावित करके ही हमारी वीरता की इतिश्री हो जाती है। वह तो पाशविक वीरता थी। सभ्यता के विकास ने हमें सच्ची वीरता की आराधना सिखलाई। इसका अभिनव रूप

गांधीवाद में प्रस्फुटित हुआ है। अब हम दुष्ट का नहीं उसकी दुष्टता के विनाश के आकांक्षी रहते हैं, हिंसक पशुओं की भांति अस्त्र-शस्त्रों से शत्रु के जीवन का अन्त करना हमारा उद्देश्य नहीं होता, बल्कि प्रेम के द्वारा, स्वयं दुःखों का स्वागत करते हुए, अपना बलिदान तक करते हुए उसके हृदय-परिवर्तन में हम विश्वास करते हैं। मानव की मानवता तो इसी में है। यह है वीर-भावना की पराकाष्ठा !

आज के प्रगतिशील साहित्य में इन्हीं भावों की प्रतिष्ठा अपेक्षित है। निम्न और दलित वर्गों के हिमायती प्रगतिवाद के वास्तविक रूप के प्रस्फुटन के लिए आज यह आवश्यक है कि हमारे कवि इसी प्रकार की आत्म-बलिदानात्मक वीर-भावना को साहित्य में आश्रय दें। आज हम चाहते हैं कि हमारे युग का कवि यह कह सके:—

"चाहती हो बुझना यदि आज,
होम की शिखा ! बिना सामान;
अभय हो कूद पड़ूँ जय बोल
पूर्ण कर लूँ अपना बलिदान !"

—दिनकर

हमें आज इसी 'अभय' की आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख में हमें देखना है कि कविवर मैथिलीशरण गुप्त में प्रगतिशील भावना कहाँ तक पोषित, पल्लवित, पुष्पित हुई है और इस आधार पर हम उन्हें युग का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं अथवा नहीं। हमें देखना होगा कि गुप्तजी ने हमारे वर्त्तमान जीवन की रागिनी कहाँ तक गाई है, हमारे सुख-दुःखों का, हमारी राष्ट्रीय आशा-आकांक्षाओं का चित्रण किस हद तक किया है और वर्त्तमान युग की वीर-भावना की अभिव्यक्ति किस रीति से की है।

गुप्तजी की राष्ट्रीयता, उनकी वीर-भावना, उनकी प्रगतिशीलता का क्रमशः उत्तरोत्तर विकास हुआ है। अपनी प्रथम रचना 'भारत-भारती' में जहाँ वे अपनी काव्यवीणा में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों का स्वर भरते हैं, उनकी वीर-भावना का चरम विकास नहीं जो वर्तमान युग की प्रगतिशीलता के लिए अपेक्षित है। उसमें उन्होंने भारत को समष्टिरूप में लिया है अवश्य—उनका दृष्टिकोण पूर्णतया राष्ट्रीय अवश्य है, पर उसमें वीरता का वह उदार पक्ष हम नहीं देखते। उसमें विगत वैभव पर विलाप अधिक है, भावी का क्रियात्मक उद्बोधन कम। फिर भी, जैसा कि उन्होंने इच्छा की थी—

'भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।'

उनकी 'भारती' सारे भारतवर्ष में गूँजी और उससे राष्ट्र की साहित्यिक प्रगति में काफी सहायता मिली। वह होमरूल का ज़माना था। उस समय के लिए शायद वही भावना प्रगतिशील रही हो। पर युग भी तेजी से आगे बढ़ा और गुप्तजी भी। जयद्रथ-वध, किसान, शक्ति, स्वदेश-संगीत, हिन्दू, गुरुकुल आदि में वे विविध काल की विविध माँगों को पूरी करते हुए 'साकेत' तक पहुँचे। साकेत में हम उनकी प्रगतिशीलता का पूर्ण विकास देखते हैं। साकेत में आधुनिक गांधीयुग की भावनाओं और आदर्शों ने इनकी कविता में स्थान पाया। यहाँ हम उन्हें युग के प्रतिनिधि कवि के रूप में देखते हैं। साकेतकार केवल काव्य की एक उपेक्षिता (उर्मिला) के ही जीवन को प्रकाश में लाने का सफल प्रयास नहीं करता, वरन् हमारे युग को वाणी भी प्रदान करता है। उस वाणी में आधुनिक युगधर्म की घोषणा है, भावी का मंगल-गान है।

'गुप्तजी की काव्य धारा' के लेखक 'गिरीश' जी के विचारों से हम सहमत नहीं जब वे कहते हैं कि "जहाँ तक साहित्य-

सृष्टि द्वारा समाज के प्रस्तुत और आगामी आदर्श को अनुरंजित रूप देने का सम्बन्ध है वहाँ तक गुप्त जी को आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवि के रूप में भी ग्रहण नहीं कर सकते।" क्योंकि हम देखते हैं, साकेत तक पहुँचते ही गुप्तजी की कविता में वह जीवन, वह शक्ति आ चुकी है जो हमारी नव जाग्रत राष्ट्रीयता को पोषण दे सके और हमारे प्रगतिशील तरुण वीरों को आदर्श वीरत्व की भावना से अनुप्राणित कर सके।

आज आदर्श वीरत्व, जैसा कहा जा चुका है, ११ वीं सदी की वीरता नहीं; उसमें उच्छृङ्खलता नहीं, संयम है; द्वेष और रोष नहीं, सद्भावना और प्रेम है; शत्रु की अनिष्ट-कामना नहीं वरन् आत्म-बलिदान की प्रोज्ज्वल प्रेरणा है। आज का वीर 'सत्य' का 'आग्रह' करता है। आज हमारे राष्ट्रीय वीर का आदर्श शिवाजी नहीं वरन् महात्मा गांधी हैं। अब हम गांधीवाद के ही पृष्ठाधार पर साकेत की राष्ट्रीय, वीर और प्रगतिशील-भावना का अध्ययन करेंगे।

भारत में वर्तमान युग की प्रगतिशीलता का सर्वप्रथम तकाजा है जन्मभूमि के प्रति प्रेम। हाँ, उसमें दूसरों की जन्मभूमि के प्रति घृणा न हो। साकेतकार ने जन्म-भूमि के प्रति प्रेम और श्रद्धा के उद्गार स्वयं राम के मुख से निकलवाये हैं—

जन्मभूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे।

× × ×

मैं हूँ तेरा सुमन, चढ़ूँ—सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, बढ़ूँ—बरसूँ कहीं।

कितना अपनापन है, कैसा प्रेम !

प्रो० नगेन्द्र के शब्दों में, 'साकेत की देश-भक्ति भी गान्धीजी

की देश-भक्ति के समान निश्चित रूप से धार्मिक है।' अन्याय और अधर्म कवि को किसी प्रकार सह्य नहीं—

पर वह मेरा देश नहीं,
जो करे दूसरों पर अन्याय।

वह एक प्रकार से विश्वबन्धुत्व की सीमा से जाकर मिल जाती है—

किसी एक सीमा पर बँध कर
रह सकते हैं क्या ये। प्राण,
एक देश क्या, अखिल विश्व
का तात चाहता हूँ मैं त्राण।

हमारे वर्त्तमान जीवन की प्रधान समस्याएँ राजनैतिक हैं, क्योंकि आज हमारी राजनीति पर ही अर्थनीति और समाज-नीति आधारित है। अतः यह आवश्यक है कि हमारे युग के प्रतिनिधि कवि के राजनैतिक विचार यथेष्ट रूप से प्रगतिशील हों। साकेतकार इस विषय में पीछे नहीं! वह भारत में यद्यपि प्रजातंत्र में अनियंत्रित अधिकार का हिमायती नहीं—

निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को!

फिर भी राजतंत्र में व्यक्तिगत नियंत्रण का उद्देश्य समष्टि रूप से सभी की कल्याण-सिद्धि और मुक्ति ही हो सकता है—

जनपद के बन्धन मुक्ति हेतु हैं सब के,
यदि नियम न हों, उच्छिन्न सभी हों कबके।

वे अनियंत्रित राजतंत्र जिसमें राजा को ही उत्तरदायित्व-विहीन सर्वाधिकार हो, स्वीकार नहीं करते। शासन सभी पर है—

शासक पर भी, वह भी न फूल कर झूले,

राज्य तो प्रजा की थाती है, वह भोग्य नहीं। राम के शब्दों में—

राज्य है प्रिये, भोग या भार?

× × ×

प्रजा की थाती रहे अखण्ड।

× × ×

मात्र दायित्व हेतु है राम।

इसी राम राज्य का आदर्श गान्धीजी का स्वर्णिम स्वप्न है।

पर यदि यही राज्य अत्याचारी शासक के हाथों में पड़ कर प्रजा की थाती न रह कर भोग की वस्तु हो जाय, तो हमारा क्या कर्त्तव्य होगा, इसे साकेतकार बड़े जोरदार शब्दों में शत्रुघ्न के मुँह से कहलाते हैं—

राज्य को यदि हम बना लें भोग,
तो बनेगा वह प्रजा का रोग।
फिर कहूँ मैं क्यों न उठकर ओह!
आज मेरा धर्म राजद्रोह!!

× × ×

राज्य में दायित्व का ही भार,
सब प्रजा का वह व्यवस्थागार।
वह प्रलोभन हो किसी के हेतु,
तो उचित है क्रान्ति का ही केतु।

कभी-कभी विप्लव और अराजकता भी कर्त्तव्य हो जा सकते हैं—

हा! अराजक भाव, जो था पाप,
कर दिया है पुण्य तुमने आप।

× × ×

राजपद ही क्यों न अब हट जाय

× × ×

विगत हों नरपति, रहें नर-मात्र,

× × ×

सब जिएँ ज्यों एक ही कुल भुक्त !

इन क्रान्तिकारी विचारों का रूसी साम्यवाद (Socialism) अथवा मार्क्सवादी समष्टिवाद (Marxist Communism) से समन्वय कीजिए। कितने प्रगतिशील विचार हैं !

पर इस क्रान्ति की सदा आवश्वकता नहीं है। उसे कवि आदर्श व्यवस्था भी नहीं मानता। आदर्श तो राम-राज्य ही हो सकता है—

किन्तु राजे राम राज्य नितान्त—

विश्व के विद्रोह करके शान्त।

× × ×

तात, राज्य नहीं किसी का वित्त;

वह उन्हीं के सौख्य-शान्ति निमित्त—

स्वबलि देते हैं उसे जो पात्र,

नियत शासक लोक-सेवक मात्र।

आधुनिक युग का यही उचिततम आदर्श सम्भव है !

गुप्तजी की वीरता में भी प्रगतिशीलता की छाया है—उनकी वीर-भावना भी आधुनिक-युग के आदर्शों के अनुरूप ही है ! युद्ध केवल युद्ध के लिए श्रेयस्कर नहीं। विश्व-शान्ति की रक्षा के निमित्त ही युद्ध की आवृत्ति की आवश्यकता हो सकती है—

इसी हेतु है जन्म टंकार का,

न टूटे कभी तार झंकार का।

जब लक्ष्मण के शक्तिहत होने का समाचार सुन कर शत्रुघ्न शंखनाद करते हैं, तो उस भीषण घोष को सुनते ही सारी नगरी

रण-प्रयाण को तैयार हो जाती है। माताएँ और पत्नियाँ अपने पुत्रों और पतियों को उत्साहपूर्वक रण के निमित्त विदा करती हैं। यह है आधुनिक युग का तकाजा। यही नहीं, कैकेयी भी साथ चलने को तैयार हो जाती है और फिर उर्मिला सेनानी बन कर आगे बढ़ने लगती है। वर्त्तमान स्वतंत्रता संग्राम में भी स्त्रियाँ पीछे कैसे रह सकती हैं।

भारत के निम्नांकित वाक्यों में आज़ादी के पुजारी आधुनिक तरुण के अन्तरतम की आवाज़ है—

भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिन्धु पार वह विलख रही है व्याकुल मन में।

× × ×

उठो इसी क्षण शूर, करो सेना की सज्जा,
रह न जाय अब कहीं, किसी रावण की लंका।

'किसी रावण की लंका' में आज के सत्ताधारी शोषकों की व्यञ्जना है!

भारत की उपर्युक्त आकांक्षा असम्भव भी नहीं। वीरों के लिए असम्भव शब्द का अस्तित्व ही नहीं है—

जहाँ हाथ में लोह, वहाँ पैरों मे सोना।

पर वह सोना अनधिकार लूट से प्राप्त नहीं होना चाहिए। शत्रुघ्न के इन वाक्यों का—

अब क्या है? बस, वीर, बाण से छूटो-छूटो।
सोने की उस शत्रुपुरी लंका को लूटो।—

खंडन करती हुई उर्मिला कहती है—

"—नहीं, नहीं, पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।
सावधान, वह अधम-धान्य-सा धन मत छूना।"

युद्ध में जाना है तो केवल इसी हेतु कि—

विन्ध्य-हिमालय-भाल भला ! झुक जाय न वीरो,
चन्द्र सूर्य-कुल-कीर्ति-कला रुक जाय न धीरो !

क्योंकि—

पावें तुम से आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,
जिसका अर्थ हो दण्ड और इति दया-तितिक्षा !

भारत का यही प्राचीन काल से आदर्श रहा है और अब भी है। शत्रु से 'बदला' लेने की हमारी नीयत ही कहाँ रहती ? हमारी वीरता में लुटेरे की धनलिप्सा नहीं, आर्यों की न्याय-प्रियता होने की आवश्यकता है। क्योंकि स्वयं दुःख झेलकर भी वसुधा को सुख-सम्पन्न करना ही हमारा चिरन्तन लक्ष्य है ! ऐसे वीरव्रती लोगों को ही हम हृदय के सर्वोच्चासन पर स्थान देंगे। देखिए:—

मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से,
अमर सुधा से जीते हैं।
किन्तु हलाहल भवसागर का,
शिव-शंकर ही पीते हैं ॥

हमें आज शिवशंकर होना है तभी हम प्रगतिपथ के उपयुक्त थक होंगे। बिहार का प्रगतिशील नवयुवक कवि दिनकर कहता है—

लेना अनल-किरीट भाल पर
ओ आशिक होने वाले !
कालकूट पहले पी लेना
सुधा बीज बोने वाले !

ऐसी ही पंक्तियाँ आज के नवयुवक समाज को अनुप्राणित करने में समर्थ हैं।

साकेतकार की प्रगतिशीलता के और भी कितने पहलू हैं, चिरन्तन ऐतिहासिक उक्तियों और राजनैतिक सत्यों एवं स्वयं-

सिद्धियों की भी कमी नहीं है। पर विस्तारभय से उनके उदाहरण नहीं दिये जा रहे।

केवल एक प्रमुख बात और। आधुनिक प्रगतिवाद समाज की निम्न श्रेणी के लोगों की रहनुमाई का दावा करता है। गान्धीवादा में भी अछूतोद्धार मूलक विचारों का बोलवाला है। गुप्तजी में भी हम इस भाव का अभाव नहीं पाते। चित्रकूट में सीता कोल-किरात-भिल्ल वालाओं के साथ भी स्नेह और समानता का व्यवहार करती है—

ओ भोली कोल किरात भिल्ल बालाओ
मुझको कुछ करने योग्य काम बतलाओ,
लो मेरा नागर भाव, भेंट जो लाया।

गान्धी के प्रिय अस्त्र चरखा की भी उपेक्षा नहीं की है—

तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ हम कातें बुने गान की लय में।

इन वातों को मद्देनजर रखते हुए हम देखते हैं कि गुप्तजी की प्रगतिशीलता आधुनिक भारत के सर्वथा अनुकूल है। वह भारतीय राजनीति और समाजनीति की सबसे बड़ी शक्ति गान्धीवाद द्वारा अनुरञ्जित है—चाहे उसमें पाश्चात्य के कोरे खोखले प्रगतिवाद की भाँति क्षुधित किसानों और मजदूरों के वीभत्स, अतिरञ्जित चित्र भले ही न हों फिर भी यदि गिरीशजी को इन्हें प्रतिनिधि कवि मानने में आपत्ति हो तो यह उनकी भूल है!

गुप्तजी की प्रगतिशीलता को यदि हम भावात्मक प्रगतिवाद कहें तो अनुचित न होगा क्योंकि यह मार्क्स के इतिहास और वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी भौतिकवादी (Materialistic) विचारों पर आधारित न होकर हृदय की वीर-भावना पर अवलम्बित है।



महादेवी की काव्य-साधना

महादेवी के गीत उस पूत निर्भरिणी के समान हैं, जो भू-गर्भ में विलीन हो अन्दर ही अन्दर सदियों की यात्रा तय करने के उपरान्त अनायास फूट निकली हो। इनकी वाणी में मध्ययुग के भग्न हृदय की चिर मौन साधना मुखरित हो उठी है। शृङ्गार-काल में जो स्रोत सूख-सा गया था, उसमें महादेवी ने अपने गीतों के द्वारा आज पुनः प्रवाह की प्रेरणा दी। उन गीतों में व्यक्ति के अन्तरतम में गूँजती अनन्त अव्यक्त सत्ता की प्रतिध्वनि है। उनमें उद्देश्य है, साधना है, उपासना का पावन संयम है। रामकुमार वर्मा की कविताओं की भाँति उनमें श्रान्तविहग के सन्ध्याकालीन 'चह-चह' का सा उद्देश्यहीन उल्लास नहीं। उनके सांध्यगीत में 'किसी अलौकिक चिर सुन्दर' की प्रतीक्षा है, उसके अभाव में वेदना है, पीड़ा है, तड़प है!!

साधना की इसी संगीतमय रूपरेखा के कारण उनके गीत रहस्यवाद की उच्चतम अभिव्यक्ति से समन्वित हैं। छायावाद मात्र ही उनमें नहीं, वरन् विशुद्ध रहस्यवाद की पराकाष्ठा भी है। छायावाद और रहस्यवाद के संबंध में अगणित भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। कोई छायावाद-रहस्यवाद को पर्यायवाची समझे बैठा है, कोई छायावाद को अभिव्यञ्जनावाद की कोटि में रखने को उद्यत है, तो किसी को समझने का प्रयत्न किए बिना ही छायावाद रहस्यवाद की छीछालेदर करने में अपने कर्तव्य-पालन की परिणति दृष्टिगत होती है। वस्तुतः छायावाद काव्य में उस दृष्टिकोण को कहना अधिक संगत है जिसमें बाह्य जगत और व्यक्ति का आन्तरिक जगत् में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की

स्थापना होती है। इसके आगे रहस्यवाद में उस स्थिति का चित्रण रहता है, जब ससीम आत्मा विश्व के सौन्दर्य में असीम परमात्मा के चिर-सुन्दर रूप का दर्शन कर उससे तादात्म्य-स्थापना के निमित्त आकुल हो उठती है और मधुर्य भाव पर अधारित प्रेम की साधना से उस अनन्त अगोचर से तदाकार होने का प्रयास करती है। रहस्यवाद के मूल में विशुद्ध दार्शनिक अद्वैतवाद रहता है। चिन्तन के तन्त्र में जो अद्वैतवाद है, वही काव्य जगत् में कल्पना, भावना और अनुभूति के सहारे रहस्य वाद की रूप-रेखा ग्रहण करता है। अतः रहस्यवाद में निर्गुण की ही उपासना सम्भव है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"राम-कृष्णोपासकों की (सगुण) भक्ति रहस्यवाद की कोटि में नहीं आ सकती।" (जायसी ग्रन्थावली) निर्गुण के प्रेम में विहित विरोधाभास ही रहस्यवाद की रहस्यमयता के मूल में है।

महादेवी की कविताओं में भी इस तत्व की स्वाभाविक प्रचुरता है। 'उनकी काव्य-वेदना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय निवेदन है। कवि की आत्मा, मानों इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। मीरा ने जिस प्रकार उस परम पुरुष की उपासना सगुणरूप में की थी, उसी प्रकार महादेवीजी ने अपनी भावनाओं में उसकी आराधना निर्गुण रूप में की है। उसी एक का स्मरण चिन्तन एवं उसके तादात्म्य होने की उत्कण्ठा, महादेवी जी की कविताओं के उपादान हैं।" (रामकृष्णदास; "नीरजा" की भूमिका में)

यद्यपि हिन्दी में रहस्यवाद की परम्परा के आदि प्रवर्त्तक कबीर माने जा सकते हैं, फिर भी दार्शनिकता से बोझिल होने के फलस्वरूप वे विशुद्ध काव्यात्मक रहस्यवादी नहीं। जायसी की प्रबन्धात्मकता उनकी रहस्यभावना में बाधक हुई।

रहस्यवाद का पूर्ण प्रस्फुटन आधुनिक युग में गीति काव्य के पुनर्जीवन का आधार लेकर ही सम्भव हुआ, और यह हुआ महादेवीजी की ही रचनाओं द्वारा। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी "हिन्दी साहित्य का इतिहास" (पृ० ८०७) में लिखा है-"छायावाद का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ (तात्पर्य 'रहस्यवाद' से है) लेकर तो हिन्दी काव्य क्षेत्र में चलने वाली श्री महादेवी वर्मा ही हैं। पन्त, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक-पद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए। इस प्रकार महादेवीजी रहस्यवाद के पथ की अकेली पथिक हैं। इससे उनका महत्त्व कम नहीं ! उनकी कविताओं का उत्कर्ष ही आधुनिक युग में रहस्यवाद के उत्कर्ष की सीमा है !

देखना यह है कि उन्होंने रहस्यवाद को कितना ऊँचा उठाया और रहस्यवाद के कितने प्रकार, कितने भवान्तर भी उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हैं। प० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार— "रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—भावात्मक और साधनात्मक। हमारे यहाँ का योगवर्मा साधनात्मक रहस्यवाद है। (कबीर में इसकी धूमिल छाया वर्त्तमान है)......भावात्मक रहस्यवाद की भी कई श्रेणियां हैं, जैसे भूतप्रेत की सत्ता मानकर चलने वाली भावना, परम पिता के रूप में एक ईश्वर सत्ता मानकर चलने वाली भावना स्थूल, रहस्यवाद के अन्तर्गत होगी। (ईसाई सन्तों की रहस्य भावना दृष्टान्त रूप में है) अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलने वाली भावना से सूक्ष्म और उच्चकोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है।" और महादेवी की भावना इसी अन्तिम श्रेणी की है। उसमें रहस्यवाद की धारा अपनी सारी वृत्ति, सारी पवित्रता, सारा सौंदर्य लेकर प्रवाहमान है।

अँग्रेज़ विद्वान् स्परजन के मतानुसार इस भावनात्मक रहस्यवाद के भी निम्नलिखित भेद हो सकते हैं—

१—प्रेम और सौन्दर्य से समन्वित रहस्यभावना, अँगरेज़ कवि शली और हिन्दी में जायसी में विद्यमान है।

२—दार्शनिकता प्रधान रहस्यभावना, जो 'प्रसाद'जी की कविताओं में लक्षित है। कबीर का रहस्यवाद ऐसा ही था।

३—धार्मिक और उपासना-प्रसूत रहस्यभावना, जिसके सम्बन्ध में मीरा का नाम लिया जा सकता है।

४—प्रकृति-सम्बन्धी रहस्य भावना, जो सुमित्रानन्दन 'पन्त' की कविताओं में वर्त्तमान है। अँगरेजी कवि वर्ड्स्वर्थ की भावना इसी कोटि की थी।

महादेवी की कविताओं में हम चारों तत्त्वों का सुखद समन्वय पाते हैं, यद्यपि उपासना की भावना की प्रधानता है। अनन्त अप्रत्यक्ष सत्ता की प्रियतम के रूप में माधुर्यभाव भरित आराधना उनकी कविताओं का प्राण है।

प्रेम और सौन्दर्य का समुद्र उनकी निम्नाङ्कित पंक्तियों में लहरें मार रहा है—

मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय
मेरा अलबेला-सा है।
मेरी आँखों में ढल कर
छवि उसकी मोती बन आई;
उसके घन प्यालों में है,
विद्युत् सी मेरी परछाईं;
नभ में उसके दीप स्नेह
जलता है पर मेरा उनमें,
मेरे हैं यह प्राण, कहानी
पर उसकी हर कम्पन में!
यहाँ स्वप्न की हाट, वहाँ अलि छाया
का मेला-सा है! (नीरजा

परमात्मा सृष्टि का निमित्त एवं उपादान करण भी है, इस दार्शनिक सत्य की संगीत के स्वरों में व्यंजना देखिए—

"वीणा भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।"

× × ×

दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

उपासना का भाव तो पद-पद पर है—

"मधुर-मधुर मेरे दीपक जल,
युग-युग प्रति-दिन प्रति-क्षण, प्रति-पल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर।
सौरभ फैला विपुल धूप बन;
मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन,
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित।
तेरे जीवन का अणु घुल-घुल!
पुलक-पुलक मेरे दीपक जल!"

(नीरजा से)

अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का ही अर्घ्य आराध्य के चरणों पर चढ़ा देने की यह कैसी उपासना

प्रकृति का इनकी कविताओं में महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति-तत्वका विश्लेषण हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ एक उदाहरण मात्र दे देना पर्याप्त होगा—

आज सुनहली वेला!
आज क्षितिज पर जाँच रहा है
तूली कौन चितेरा!
मोती का जल सोने की रज
विद्रुम का रंग फेरा!
क्या फिर क्षण में,
सान्ध्य गगन में।

फैल मिटा देगा इसको,
रजनी का श्वास अकेला ?"

('सान्ध्य गीत' से)

इस प्रकार रहस्यवाद के अन्तर्गत समस्त श्रेष्ठ प्रवृत्तियों का समुच्चय उनकी कविताओं में वर्त्तमान है। यह कल्पना की क्रीड़ा द्वारा प्रसूत कृत्रिम भावों की कड़ियाँ मात्र नहीं, यह उपास्य देव के चरणों पर चढ़ाने के निमित्त निर्गन्ध किंशुकों की माला नहीं। शुक्लजी ने महादेवी वर्मा को साम्प्रदायिक रहस्यवादी माना है। साम्प्रदायिक से तात्पर्य है उस प्रकार के कवियों से जिनकी भावानुभूति तक कल्पित होती है, जिनकी वाक्-निर्झरी हृदय के अन्तरतम कोने से नहीं फूटती। अतः स्वाभाविकता का अभाव ऐसे कवियों की वाणी में देखने को अनिवार्यतः मिलता है। पर यह बात महादेवी के सम्बन्ध में कहना हमें तो उचित नहीं जान पड़ता। शुक्लजी से सविनय मत-भेद प्रकट कर महादेवी को साम्प्रदायिक रहस्यवादी नहीं मानने का जी चाहता है। क्योंकि उनकी काव्य-कला में साधना की प्रोज्ज्वल आभा है, सहृदयता की वह रस-धारा है जो सच्ची अनुभूति द्वारा प्रसूत जान पड़ती है। भावों की सचाई (Seincerity) का अभाव वहाँ नहीं है !

क्योंकि, हम यह भी देखते हैं कि उनकी रहस्य-भावना में एक क्रम है, उन्नति की एकरसता है। उनकी विचार-धारा क्रमशः अग्रसर होती है, उसमें कोई व्यवधान नहीं, कोई जल-प्रपात-सा आकस्मिक विक्षेप नहीं।

विभिन्न रहस्यवादी कवियों ने रहस्यवाद की भिन्न-भिन्न स्तर की अनुभूतियाँ अभिव्यञ्जित की हैं। पर शुद्ध भावात्मक रहस्यवाद के चार मुख्य स्तरों की क्रमिक अभिव्यक्ति हम महादेवी में ही पाते हैं। ये रहस्यवाद की चरम अनु

चार सोपान हैं, रहस्य-दर्शन के मार्ग की चार उत्तरोत्तर अवस्थाएँ हैं। ये इस प्रकार हैं—

१—प्रथम अवस्था वह है जब विश्व-प्रकृति में किसी अप्रत्यक्ष सत्ता का आभाव पा कवि कौतूहल मिश्रित जिज्ञासा की अनुभूति प्रकट करता है। इसका उदाहरण 'पन्त' का मौन-निमंत्रण है—

"स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन!"

—पन्त (पल्लव)

२—इसके पश्चात् कवि समस्त दृश्य जगत् में एक ही व्यापक सत्ता का आभास पाने लगता है; एक ही तत्व कवि के हृदय से लेकर प्रकृति के अणु-अणु तक में अभिव्याप्त प्रतीत होने लगता है। इसे 'सर्ववाद' (Pantheism) के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है। अँगरेज कवि वर्डस्वर्थ में यही भावना प्रधान थी।

३—तीसरी अवस्था के अन्तर्गत कवि की वह स्थिति आती है, जब उसकी आत्मा विश्व में, प्रकृति में परमात्मा का प्रतिबिम्ब देख कर उसके 'सलोने बिम्ब' के लिए तड़प उठती है। कवि के हृदय में उस चिर सुन्दर अभाव प्रियतम के प्रति प्रेम उद्भूत होता है। उसके सामीप्य का अभाव खटकने लगता है, बेचैन बनाने लगता है। वेदना के शतशत दंशन से कवि आहत क्रन्दन कर उठता है।

४—अन्तिम अवस्था वह है, जब कवि अपने व्यक्तित्व के अन्दर ही प्रियतम के अस्तित्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है। फिर दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है, काँटे भी फूल बन जाते हैं। विरह और मिलन एकाकार हो जाता है। यही समत्व-भावना रहस्यवाद का उत्कर्ष है।

महादेवीजी की कविताओं में इन चारों अवस्थाओं ने अभिव्यञ्जना पाई है। नीहार में प्रथम, रश्मि में द्वितीय और नीरजा एवं सान्ध्यगीत में तृतीय तथा चतुर्थ अवस्थाएँ मिश्रित रूप से मुखरित हुई हैं। कवियित्री स्वयं कहती हैं—

"नीहार के रचनाकाल में मेरी अनुभूतियों में वैसी ही कौतूहलमिश्रित वेदना उमड़ आती थी, जैसे बालकके मन में दूर दिखाई देने वाली अप्राप्य सुनहली उषा और स्पर्श से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से उत्पन्न हो जाती है। रश्मि तो उस समय आकर मिला जब मुझे अनुभूति से अधिक उसका चिन्तन प्रिय था, परन्तु नीरजा और सान्ध्यगीत मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुःख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगा।"

नीरजा में भी नीहार की कुतूहल भावना एक-आध स्थल पर व्यक्त है, जहाँ कवयित्री विश्व के अपरिमित सौन्दर्य और उसके प्रति अपने हृदय के आकर्षण को देख कर कहती है—

जाने किसकी स्मित रूम झूम
जाती कलियों को चूम चूम
उनके लघु उर में जग, अलसित,
सौरभ-शिशु चल देता विस्मित
हले मृदु पद से डोल डोल,
मृदु पंखुरयों के द्वार खोल।

चार सोपान हैं, रहस्य-दर्शन के मार्ग की चार उत्तरोत्तर अवस्थाएँ हैं। ये इस प्रकार हैं—

१—प्रथम अवस्था वह है जब विश्व-प्रकृति में किसी अप्रत्यक्ष सत्ता का आभाव पा कवि कौतूहल मिश्रित जिज्ञासा की अनुभूति प्रकट करता है। इसका उदाहरण 'पन्त' का मौन-निमंत्रण है—

"स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन!"

—पन्त (

२—इसके पश्चात् कवि समस्त दृश्य जगत् में व्यापक सत्ता का आभास पाने लगता है; एक ही तत्व कवि के हृदय से लेकर प्रकृति के अणु-अणु तक में अभिव्याप्त प्रतीत होने लगता है। इसे 'सर्ववाद' (Pantheism) के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है। अँगरेज़ कवि वर्ड्सवर्थ में यही भावना प्रधान थी।

३—तीसरी अवस्था के अन्तर्गत कवि की वह स्थिति आती है, जब उसकी आत्मा विश्व में, प्रकृति में परमात्मा का प्रति-विम्ब देख कर उसके 'सलोने विम्ब' के लिए तड़प उठती है। कवि के हृदय में उस चिर सुन्दर अभाव प्रियतम के प्रति प्रेम उद्भूत होता है। उसके सामीप्य का अभाव खटकने लगता है, बेचैन बनाने लगता है। वेदना के शतशत दंशन से कवि आहत क्रन्दन कर उठता है।

४—अन्तिम अवस्था वह है, जब कवि अपने व्यक्तित्व के अन्दर ही प्रियतम के अस्तित्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है। फिर दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है, काँटे भी फूल बन जाते हैं। विरह और मिलन एकाकार हो जाता है। यही समत्व-भावना रहस्यवाद का उत्कर्ष है।

महादेवीजी की कविताओं में इन चारों अवस्थाओं ने अभिव्यञ्जना पाई है। नीहार में प्रथम, रश्मि में द्वितीय और नीरजा एवं सान्ध्यगीत में तृतीय तथा चतुर्थ अवस्थाएँ मिश्रित रूप से मुखरित हुई हैं। कवियित्री स्वयं कहती हैं—

"नीहार के रचनाकाल में मेरी अनुभूतियों में वैसी ही कौतूहलमिश्रित वेदना उमड़ आती थी, जैसे बालकके मन में दूर दिखाई देने वाली अप्राप्य सुनहली उषा और स्पर्श से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से उत्पन्न हो जाती है। रश्मि तो उस समय आकर मिला जब मुझे अनुभूति से अधिक उसका चिन्तन प्रिय था, परन्तु नीरजा और सान्ध्यगीत मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुःख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगा।"

नीरजा में भी नीहार की कुतूहल भावना एक-आध स्थल पर व्यक्त है, जहाँ कवयित्री विश्व के अपरिमित सौन्दर्य और उसके प्रति अपने हृदय के आकर्षण को देख कर कहती है—

जाने किसकी स्मित रूम झूम
जाती कलियों को चूम चूम
उनके लघु उर में जग, अलसित,
सौरभ-शिशु चल देता विस्मित
हले मृदु पद से डोल डोल,
मृदु पंखुरियों के द्वार खोल।

कुम्हला जाती कलिका अजान
वह सुरभित करती विश्व धूम !

और भी—

अनुसरण निश्वास मेरे
कर रहे किसका निरन्तर ?
चूमने पद-चिन्ह किसके
लौटते यह श्वास फिर फिर ?

कवि की यह मुग्ध जिज्ञासा आगे चलकर सर्ववाद की सीमा तक पहुँचती है—

उमड़ता, मेरे दृगों में
बरसता घनश्याम में जो;
अधर में मेरे खिला नव-
इन्द्र धनु अविराम में जो।

उमड़ते हुए आँसुओं और घुमड़ती हुई मेघमाला का कविकी दृष्टि में एक ही मूल्य है, एक ही कारण, एक ही प्रयोजन ! व्यक्तिगत जीवन के हास-रुदन का प्रतिविम्ब प्रवृत्ति के क्रिया-कलापों में भी दृष्टिगत है ! शैली के (Epipsychidion) में इसी कोटि का रहस्यवाद है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

In solitudes,
Her voice come to me through the
whispering woods
And from the fountains, and
the odours deep
Of flowers.....................

महादेवी को भी प्रत्यक्ष जीवन का क्षण-क्षण, दृश्यमान-जगत् का अणु-अणु उसी परोक्ष सत्ता से ओत-प्रोत होता है। उस घट-घट में रमने वाले के बिना संसार

अस्तित्व असंभव था। वही तो जड़-चेतन का आहार है। उस अव्यक्त के विना यह व्यक्त सत्ता असंभव थी। प्रत्यक्ष से ही परोक्ष सिद्ध है—

क्या न तुमने दीप वाला ?
क्या न इसके शीत अधरों से लगाई
अमर ज्वाला ? (सान्ध्यगीत)

यह निश्चय हो जाने पर कि इस संसार-दीपक को अग्नि-शिखा के ताज से सजाने वाला वही है जिसके 'रवि-शशि', 'अवतंस लोल' हैं। कवयित्री को उसे देखने की उत्कण्ठा होती है। यदि सब कुछ वही है, सभी में उसी का आलोक है, तो फिर वह इतना छिपा-छिपा क्यों है ? क्यों नहीं जो परोक्ष है, वह प्रत्यक्ष हो जाता ? महादेवी जी इस पहेली को सुलझाने को व्यग्र हो उठती हैं—

फिर विकल हैं प्राण मेरे।
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देखलूँ
उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पन्थ से युगकल्प,
उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बनकर, आज मेरे श्वास घेरे ?

इन पंक्तियों में "व्यक्ति की औत्सुक्यपूर्ण तड़पन—विश्व के रहस्य को विदीर्ण करने के लिए आत्मा का प्रयास है।" जीवन को ही वन्धन समझने वाला प्राणी पहेली को सुलझाने के निमित्त श्वासों को भी पीछे छोड़ जाने में नहीं हिचक सकता। कबीर ने भी कहा है—

जा मरने से जग डरे, मोहि परम आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइ हौं, पूरण परमानन्द॥

इसी भावना की अनुभूति के पश्चात् महादेवी की विरह-साधना आरम्भ होती है। चिरन्तन असीम होते हुए भी व्यक्ति-रूप में सीमा बाँधना उन्हें खलता है—

सिन्धु की निस्सीमता पर लघु लहर का लास कैसा ?

और वे असीम से एकाकार होने को आकुल हो उठती हैं। असीम यहीं से प्रियतम रूप में आया है जिसके समक्ष वह प्रणय-निवेदन करती हैं, गिड़गिड़ाती हैं, आँसू बहाती हैं। क्षण भर के लिए भी प्रियदर्शन के हेतु वे बेचैन हैं—

"तुम्हें बाँध पाती सपने में।
तो चिरजीवन प्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने में!"
(नीरजा)

उसी प्रिय की आराधना, उसी की उपासना उनके जीवन का लक्ष्य होता है। अपने समग्र व्यक्तित्व को वह अपने निराकार प्रभु के चरणों में समर्पित कर देंगी—

"प्रिय मेरे गीले नयन बनेंगे आरती।
श्वासों में सपने कर गुम्फित
वन्दनवार वेदना चर्चित
भर दुख से जीवन का घट नित,
मूक क्षणों में मधुर भरूँगी भारती।"

विरह वेदना इतनी बढ़ जाती है कि प्रियतम की ज्वाला में शलभ के समान जलना भी उन्हें श्रेयस्कर ही प्रतीत होता है—

क्यों जग कहता मतवाली ?
अलि! मैंने जलने में ही जब जीवन की
निधि पाली।

विरह की तीव्रता की अभिव्यक्ति बिहारी आदि की भाँति ऊहात्मक कल्पनाओं द्वारा नहीं की गई है। वह हास्यास्पद

नहीं होने पाई है। कवयित्री की मर्म व्यथित उक्तियाँ सीधे हृदय को स्पर्श करती हैं—

"मेरे सजल मुख देख लेते।
यह करुण मुख देख लेते!
× × × ×
घुल गई इन आँसुओं में
देव जाने कौन हाला!
झूमता विश्व पी पी
घूमती है नक्षत्र माला;
साध है तुम
बन सघन तम
सुरँग अवगुण्ठन उठा
गिन आँसुओं की रेख लेते।"

(सान्ध्य-गीत)

अपनी वेदना की व्याप्ति समग्र विश्व में दिखलाई गई है। नभ-मण्डल में अनवरत घूमने वाले नक्षत्र भी उसके मदिर प्रभाव से मुक्त नहीं। वेदना की हाला पी कर भी वह प्रियतम के प्रतिरूप जगत के लिए हृदय का उज्वलतम रस प्रदान करती है, मेघ की भाँति जगत् के कल्याण के लिए अपने को बरस देने की आकाङ्क्षा रखती है—

"मैं नीर भरी दुख की बदली।
रजकण पर जलकण हो बरसी
नव-जीवन अंकुर बन निकली।"

फिर भी कवयित्री एक साधिका हैं; संसार के लिए आत्मदान देकर भी सांसारिकता के स्पर्श से परे। संसार रूपी शलभ उनकी साधना की ज्वाला से भस्म भी हो सकता है। अतः लौकिक प्रेम उन्हें स्वीकार नहीं—

शलभ ! मैं शापमय वर हूँ,
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।
ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृंगार-माला,
ज्वाल अक्षय कोष सी
अंगार मेरी रंगशाला ;
फिर कहाँ पालूँ तुझे, मैं मृत्यु मन्दिर हूँ।"

जो एक को समर्पित हो चुकी वह दूसरे के लिए जीवन हो भी कैसे सकती है !

इस साधना पथ पर कवयित्री के सुख-दुख अपने हैं। जगत् के दृष्टिकोण से जो सुख है, वही साधिका के लिये दुख अथवा उपेक्षा का विषय भी हो सकता है—

"पंकज कली !
मधु से भरा विधु पात्र है,
मद से उनींदी रात है
किस विरह से अवनत-मुखी
लगती न उजियाली भली !"

इस गीत में कवियित्री ने साधिका के जीवन यापन का आदर्श प्रस्तुत किया है—केन्द्रीभूत प्रेम, सांसारिकता के प्रति विराग भावना, ऐंद्रिक सुखों का त्याग ! इसीलिए उनकी कविता पूर्णतया आध्यात्मिक है।

वेदना भी उनकी ऐसी है जो सांसारिक सुखों से नहीं मिटती है। वह मिटेगी तो तो उसी प्रियतम के दर्शन से। जब तक वह उन्हे प्राप्य नहीं तब तक वेदना ही उनकी संगिनि है—

"प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अंधेरा।
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।"

वेदना का उनके जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। वेदना में जलते-जलते वह वेदना ही को प्यार करने लगती हैं, वहीं उनके जीवन की निधि वन जाती है—

"मधुवेला है आज। अरे तू जीवन-पाटल फूल।
डर मत रे सुकुमार! तुझे दुलराने आएँ शूल।

और तव विरह ही में मिलन, दुख में ही सुख, तिमिर में ही आलोक की प्रतीति उन्हें होने लगती है। रहस्यवाद की भावना का उत्कर्ष तभी पहुँचता है जब सुख दुख एक ही तत्त्व से निसृत-से अनुभूत हों, जब प्रियतम के तादात्म्य का अनुभव हृदय के अन्तरतम में ही होने लगे। इसी अवस्था की अभिव्यञ्जना वे इस रूप में करती हैं—

शून्य मन्दिर में बनूंगी, आज मैं प्रतिमा तुम्हारी।
अर्चना हो शूल भोले,
वार दृगजल अर्घ्य होले;
आज करुणास्नात उजला दुःख हो मेरा पुजारी!

'मेरा पुजारी' क्योंकि मेरे तेरे का भेद ही मिट गया, अब तो आराधिका ही आराध्यमयी बन गई, उसी की प्रतिमा! अपने में प्रियतम की अनुभूति उसे पूर्णतः हो गई है। कवयित्री संसार को संबोधित कर कहती हैं—

"मैं किसी की मूक छाया हूँ,
न क्यों पहचान पाता!
बोलता मुझ में वही, जग
मौन में जिसको बुलाता!"

अथवा—

"हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले।"

सुख दुख में इसी समता को भगवान् कृष्ण ने गीता में सर्व-श्रेष्ठ योग कहा है। इस स्थिति की प्राप्ति के बाद फिर कुछ भी

पाने को नहीं रहता। अतः साधिका के जीवन में भी उल्लास है, क्योंकि अब—

"तिमिर में वह पदचिन्ह मिले।
ऐक-एक आँसू में शतशत
शतदल स्वप्न खिले।
सजनि! प्रिय के पदचिन्ह मिले!"

महादेवी की कविताओं के सम्बन्ध में एक वात महत्त्व की और कहनी है। वह है उनकी काव्य भावना के उपकरण के सम्बन्ध में। वे उपकरण तीन रूपों में हैं—

१—प्रियतम के रूप में परमात्मा।

२—साधिका अथवा प्रेयसि के रूप में आत्मा।

३—दूती अथवा अन्य कई रूपों में प्रकृति।

प्रथम दो का यथेष्ट विश्लेपण उपर्युक्त पंक्तियों में हो चुका। अव तृतीय का स्पष्टीकरण अभीष्ट है।

प्रकृति काव्य में निम्नलिखित रूपों में आ सकती है—

(१) निरपेक्ष चित्रण जहां प्रकृति की अनुपम शोभा-सुषमा का दिग्दर्शन मात्र ही उद्देश्य हो।

(२) घटना या भावना विशेप के पृष्ठाधार के रूप में प्राकृतिक वर्णन,

(३) मानव-भावनाओं से अनुरञ्जित प्रकृति-वर्णन, जब प्रकृति मनुष्य को सुख में सुखी और दुख में दुखी दिखाई दे, जिसे Ruskin ने Pathetic falacy भावनात्मक भूल कहा है। अथवा वह वर्णन जिसमें प्रकृति में मानवीय व्यापारों का आरोप हो।

(४) उद्दीपक के रूप में प्रकृति वर्णन।

(५) प्रकृति को व्यक्तित्व प्रदान कर साकार रूप से उसका वर्णन।

सामान्यत : ये ही प्रकृति वर्णन के भेद काव्यों में पाये जाते हैं। इनमें प्रथम एवं द्वितीय प्रकार का प्रकृति-चित्रण उल्लेखनीय रूप में महादेवी के गीतों में नहीं दिखाई देता! तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम भर पूर मात्रा में हैं। इसके अलावा महादेवी प्रकृति को एक अभिनव रूप में देखती हैं। छायावाद के नव्यतम संस्कारों के फलस्वरूप वह प्रकृति को मानव जीवन का प्रतिबिम्ब के रूप में भी ग्रहण करती है और प्रकृति के विभिन्न अवयवों में निहित किसी दिव्य संदेश की संभावना भी करती हैं। इसके अलावा प्रकृति का निजी जीवन में अन्तर्लेप अथवा अपने जीवन का ही प्रकृति के बीच निक्षेप उनके अनेकों गीतों के प्राण हैं। कहीं प्रकृति दूतिका के रूप में भी आई है जो प्रियतम तक साधिका का और साधिका तक प्रियतम का प्रेम सन्देश वहन करती है। कहीं वह सखी के रूप में है और कहीं साधिका की ही भांति वह भी प्रिय मिलन के लिए अभिनव शृङ्गार करती दिखाई पड़ती है।

इनमें से कुछ के उदाहरण देखें—निम्निलिखित पंक्तियों में प्रकृति सद्यस्नाता नायिका के रूप में है—

रूपसि तेरा घन-केश-पाश।
नभ गङ्गा की रजत-धार
धो आई क्या इन्हें रात!
कम्पित हैं तेरे सजल अङ्ग
सिहरा सा तन है सद्यस्नात!
भींगी अलकों के छोर
चूतीं बूंदें कर विविध लास!"

वह प्रियतम सभी के हैं। विभावरी भी उन्हीं से मिलने की अभिलाषिणी है। अनिल उसे प्रिय का सन्देश लाता है—

"अविल घूम देश देश
लाता प्रिय का संदेश,
मोतियों के सुमन-कोष,
वार वार री।
ओ विभावरी।"

साधिका की दूती भी प्रकृति ही है—

"जाने किस जीवन की सुधि ले,
लहराती आती मधुवयार।"

मधु वयार को देखकर उसे प्रियतम की याद आती है और वह मिलन प्रयाण को प्रस्तुत होती है। साधिका प्रकृति को प्रिय मिलन के हेतु शृङ्गार किए देखती है। उस अभिराम शृंगार पर रीझकर वह अपना शृङ्गार भी प्रकृति के ही उपकरणों से करती है—

"रञ्जित कर दे यह शिथिल चरण,
ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला
रजनीगन्धा का पराग।
यूथी की मीलित कलियों से अलि दे मेरी
कबरी सँवार।"

इन पंक्तियों में प्रकृति को अपने जीवन में अन्तर्लीन कर लेने की व्यञ्जना है। इससे जड़ चेतन सभी में एक ही विराट् चेतना की अभिव्याप्ति का संकेत है। इसी प्रकार प्रकृति में अपने जीवन के निक्षेप का उदाहरण देखिए—

"प्रिय! सान्ध्य गगन मेरा जीवन।
यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग।

छाया सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन।"

एक जगह प्रकृति प्रियतम के रंगों में रंगी नज़र आती है। सन्ध्या को सम्बोधन कर कही निम्नोक्त पंक्तियाँ देखिए—

'रागभीनी तू सजनि, विश्वास भी तेरे रंगीले।
लोचनों में क्या मदिर नव?
देख जिसको नीड़ की सुधि फूट निकली,
बन मधुर रव!"

नीड़ की सुधि पद में विहंगों के हृदय में भी उस अनन्त सत्ता के प्रति प्रेम की व्यञ्जना है। मानों वहीं दिव्य प्रेम पशु-पक्षियों के हृदय में भी खिल रहा है, उन्हें कर्मोन्मुख बना रहा है!!

लाक्षणिकता महादेवी की भाषा की विशेषता है। अभिव्यञ्जना की इस प्रणाली से जो अपरिचित हैं वे महादेवी की कविताओं में अस्पष्टता देखते हैं, और समझमें न आने पर अर्थहीनता का दोषारोपण करते हैं। पर सुभद्राकुमारी के शब्दों में 'वे गीत इतने स्पष्ट हैं, जितने कि उनमें गुंथे हुए तारे, संध्या, रजनी, इन्द्रधनुष, कलिका, पुष्प, प्रभात और चन्द्रमा।' केवल सहानुभूति पूर्वक लाक्षणिक और व्यञ्जक पदों का ध्यान रखते हुए समझने की आवश्यकता है।

यह लाक्षणिकता भी जानबूझ कर लाई हुई नहीं है। उक्ति में रहस्यमयता—एक वर्णनातीत भावना को शब्दों में बाँधने के प्रयास के फलस्वरूप आ ही जाती है। यह निर्गुण के प्रति प्रेम सम्बन्ध की स्थापना के विरोधाभास का ही प्रतिफलन है। दाम्पत्य प्रेम के रूपक की आवश्यकता भी इसी हेतु पड़ी। प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी कहते हैं—

"भाषा चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो, भावों की यथेष्ट व्यञ्जना सम्भव नहीं, इसीलिए रहस्यवाद की कविताओं में

प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य रूप में पाया जाता है। रहस्यवादियों का इन प्रतीकों के विना काम ही नहीं, चल सकता।" इसीलिए तो प्राचीन सन्तों ने 'गूँगे के गुड़' से इसकी तुलना की है, और इसी हेतु तो वाष्कलि ने भाव द्वारा प्रश्न किए जाने पर मौन द्वारा ही उत्तर दिया था। रहस्यवादी दाम्पत्य प्रेम को भी इसीलिए अपनाता है क्योंकि उसी की व्यापक एवं तीव्रतम भावना द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यञ्जना संभव है। रहस्यवादी "मानवी प्रेम में दैवी प्रेम का अध्याहार देखता है।" महादेवी की वाणी में इस बात का प्रमाण है कि वह आध्यात्मिकता की सुधा से पूर्णतः ओत-प्रोत है। उनके गीत मन्दिर के 'पूत धूप-धूम' की भाँति हृदय को सुरभित किए विना नहीं रहते। हमारे वयोवृद्ध आचार्यों ने भी इनका लोहा अब माना है—

"जिस कसक और अन्तर्वेदना से प्रेरित होकर उनका संगीत फूट पड़ता है, वह साँसारिक प्रभाव से जनित नहीं, किसी जगद्वाह्य वासना से उद्भूत है। उनकी कविता निस्सन्देह हृदय पर चोट करने वाली होती है।" श्यामसुन्दरदास (हिन्दी भाषा और साहित्य पृ० ३७१)

पन्त के 'युगान्त' के बाद हिन्दी कविता एक नई दिशा की ओर अग्रसर हुई है। जिस प्रकार द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया ने छायावाद की कल्पनाशीलता को छाप दिया, उसी प्रकार छायावाद युग की प्रतिक्रिया भी समाजवाद के रूप में देखने में आ रही है। प्रगतिवाद उसका साहित्यिक पहलू है। चाहे जो हो, पर महादेवी के ये साहित्यिक गीत सभी युगों में हिन्दी की अमर सम्पत्ति रहेंगे, क्योंकि उनकी रचना हृदय के मौलिक भावों को लेकर हुई है, जीवन का तत्व इनमें निहित है। महादेवी अपने पथ की एकाकी पथिक हैं, पर यही उनकी महानता भी है।

"The strongest man is he who stands all alone."

छायावाद और प्रगतिवाद

कहा जाता है कि छायावाद द्विवेदीयुग की अतिशय इति वृत्तात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उद्भूत हुआ। द्विवेदीयुग ने भाव की अपेक्षा भाषा पर अधिक जोर दिया, भाषा को पाणिनि की भाँति व्याकरण की शृंखला में बाँध दिया। आत्मा की अपेक्षा शरीर को अधिक महत्त्व मिला और हृदय अपनी अभिव्यक्ति की अतृप्त प्यास लिए किसी तिमिरमय कोने में पड़ा रहा, अज्ञात और उपेक्षित। जब हम अपने बाह्य को ही अत्यधिक महत्त्व देने लगे तो हमारा अन्तर पुकार उठा और हमें इस प्रकार का उत्तर देना पड़ा। फलस्वरूप एक प्रतिक्रिया के रूप में छायावाद आया। भाषा की सहज स्वाभाविकता ने, जो इतिवृत्ति के अनुकूल थी, वाक् वैचित्र्य, चित्रमयता एवं अप्रस्तुत योजना के समक्ष सर झुका लिया। काव्य के नन्दन कानन में कल्पना की क्रीड़ा होने लगी। वह मर्मस्पर्शी स्वाभाविकता जो श्री मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं का उपादान है— अब नहीं दिखाई पड़ने लगी। उसका स्थान लिया लाक्षणिक वैचित्र्य, अप्रस्तुत प्रतीकों की दूरारूढ़ भावना तथा धुंधले अतएव कष्ट-सिद्ध साम्य पर आधारित चित्र योजना ने।

अब इस प्रकार की पंक्तियाँ—

> "देखी मैंने आज जरा,
> क्या ऐसी ही हो जायगी मेरी यशोधरा।"

जिनके भाव सूखी लकड़ी में अग्नि के समान सहज ही चित्र में व्याप्त होकर लोकोत्तर रसात्मक अनुभूति को जन्म देते हैं, समय के विरुद्ध (out of date) समझी जाने लगीं और कवि भावोन्मेष में कहने लगा—

लेचल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे,
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे !

'प्रसाद' की इन पंक्तियों में रहस्य अपने अर्द्धोन्मीलित नेत्र खोलता-सा है, और छायावाद अपनी धूमिल, स्वप्निल छाया डाल रहा है। किसी परोक्ष सत्ता का अवलम्बन ले प्रणयोद्गार के शब्दों में हृदय की आकुलता की व्यञ्जना रहस्यवाद कहलाई। इसमें परमात्मा की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है और आत्मा की प्रेयसी के रूप में। इस हेतु माधुर्य भाव भरित होने पर भी इसमें आध्यात्मिकता का रंग है। छायावाद का यह रूप सर्वांश में महादेवी वर्मा द्वारा ही अपनाया गया। "अन्य कवि प्रतीक पद्धति या चित्र भाषा-शैली के अर्थ में ही छायावादी कहलाए।" (पं० रामचन्द्र शुक्ल)

अहा ! चूम लूं जिन चरणों को
चाँप चाँप कर उन्हें नहीं,
दुख दो इतना, अरे,
अरुणिमा ऊषा सी वह उधर वही !
—'प्रसाद'

जैसी पंक्तियों में विशुद्ध चित्रभाषा शैली या प्रतीक पद्धति वाला छायावाद है *। अंगुलियों को चाँप कर चलने से एड़ियों में लालिमा दौड़ जाती है, बस इसी बात को लेकर कवि ने ऊषा की अरुणिमा तक अपनी कल्पना दौड़ाई है। इसमें कल्पना का

विकास है, पर वह सरसता और स्वाभाविक आकर्षण नहीं जो चरणों के वर्णन में गुप्त की इन पंक्तियों में है—

पाकर विशाल कचभार एड़ियाँ धसतीं,
तव नख-ज्योति मिस मृदुल अंगुलियाँ हँसती।
पर चलने में फिर भार उन्हीं पर पड़ता,
तव अरुण एड़ियों से सुहास सा झड़ता॥

सीता की मंद-मनोहर गति का एक गतिशील चित्र साकेत के अष्टम सर्ग की इन पंक्तियों में कवि ने खींचा है।

तात्पर्य यह कि यद्यपि छायावाद हृदय पक्ष की उपेक्षा दूर करने आया था, यद्यपि वह भाषा की, काव्य के शरीर की, मनुष्य के बाह्य की प्रधानता के विरुद्ध एक शक्तिशाली विप्लव के रूप में ही आया था, फिर भी प्रतिक्रिया का प्रतिफलन होने के फलस्वरूप उसमें वह बात न थी जो द्विवेदी युग की कमी को पूरी करती। प्रतिक्रिया का जोश तो उसमें था, विप्लव का विध्वंसकारी रोमाञ्चवाद तो उसकी गतिविधि में दृष्टिगत हुआ, पर हृदय की मार्मिक अनुभूति एवं सरसता, जीवन की वास्तविक स्थितियों के प्रति सजीवता का उसमें अभाव ही बना रहा। उसमें न तो स्थैर्य था न क्रियाशील निर्णयात्मक वेग ही। नपुंसकता से उसकी उत्पत्ति हुई, विलासिता में वह पला और अस्पष्टता और शब्दाडम्बर का परिधान पहन कर संसार के सामने नित नए वेश में वह लाया जाने लगा। इससे समाज की प्यास न मिटी। एक ओर हमारे कवि मधु के प्याले में नाक डुबाये थे, आकाश के मेघ खंडों में वन वल्लरी में, सलिल-आपत्ति में स्त्री की मोहनी मूर्ति की कल्पना में वदमस्त थे, दूसरी ओर क्षुधा-पीड़ित, शोषण- जर्जर देश हाहाकार कर रहा था। बच्चे दूध के लिए मचल कर रह जाते थे। दुःखिनी माँ के आँसुओं को देखने वाला भी कोई नहीं था। यह स्थिति बहुत दिनों तक टिक

नहीं सकती थी। काव्य को यदि जीवित रहने की आकांक्षा है तो उसे जन-जीवन के समकक्ष खड़ा होना होगा। लोक-भावना की उपेक्षा कर के चलने वाला काव्य, जीवन की वास्तविकता से विच्छिन्न एक नई स्वप्निल दुनिया बसाने की अभिलाषिणी कविता, कभी चिर काल तक प्रतिष्ठा नहीं पा सकती। साहित्य और काव्य यदि युग के दर्पण हैं, यदि लोक-जीवन की बांसुरी हैं तो उन्हें जनता की दशा का चित्र खींचना होगा, उनकी दुःख दर्द की कहानी कहनी होगी। छायावाद इसमें असमर्थ था। अतः उसकी भी प्रतिक्रिया अनिवार्य हुई। नारिकेल के समान छायावाद की कविता में जो गुप्त रस है उसके आस्वाद की अवस्था तक पहुंचने के पहले ही बुद्धि और हृदय दोनों कुण्ठित, विश्रान्त हो जाते हैं। उसके कल्पना के वैभव से, पग चाहे आश्चर्य में भले ही डूब जाय पर रस-सिक्त होकर गद्-गद् नहीं हो पाता था।

छायावाद की इन कमजोरियों को छायावाद के नेताओं ने भी समझा और आज वही उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के आन्दोलन में भी अगुआ नज़र आते हैं। 'पन्त' ने 'पल्लव' में—

'अरे ये पल्लव बाल'

प्रभृति पंक्तियों द्वारा छायावाद के पनपने की आशा दिखाई थी। पर वही 'युगान्त' द्वारा यह कहते पाये गए—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र।

युगान्त में छायावाद के युग के अन्त की सूचना है, प्रगतिवाद के युग के अरुणोदय का आह्लाद। 'युगवाणी' तो प्रगतिवाद का जय निर्घोष ही है और 'ग्राम्या' में मानो कवि प्रगति की जड़ता दूर करने के हेतु वाणी में संगीत भरने का प्रयास कर रहे हैं।

मूंद पलकों में प्रिया के ध्यान को,
थाम ले अब हृदय, इस आह्वान को।

अथवा—

बाल युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बन्दनवार!
मदन, तुम्हारा स्वागत करतीं,
खोल सतत उत्सुक दृग-द्वार॥

वही 'युगवाणी' में पुकार उठता है—

मुक्त करो नारी को मानव, चिर-वन्दिनी नारी को।
युग-युग की निर्मम कारा से, जननि, सखी, प्यारी को॥

'जननि, सखी, प्यारी' को—युग के प्रतिनिधि कवि ने युगवाणी में ही नारी को अपनी समग्रता में देख पाया है। अब उसकी दृष्टि एकांगी नहीं, उसकी आत्मा केवल 'गुलाब की रूह सूंघने और शहद चाटने' की वृत्ति से सन्तुष्ट नहीं। अब उसकी कविता व्योम वासिनी कल्पना को आत्म-समर्पण नहीं कर पाती, वरन् मिट्टी के 'भू' का भी महत्त्व समझती है।

ताक रहे हो गगन?
मृत्यु नीलिमा गहन?
देखो भू को
जीव प्रसू को
हरित भरित
मर्मरित गुंजरित·······
कुसुमित भू को!
जिस पर अंकित
सुर मुनि वंदित
मानव पद तल।
(युगवाणी : पन्त)

मानव जीवन ने 'जीवन की वास्तविकता के' वास्तविक जगत् के संघर्षों ने, काव्य में प्रतिष्ठा पाई है। कवि अब वस्तु गगन से निराश स्वप्नदर्शी नहीं, वरन् आत्म-विश्वास से युक्त तरुणोचित तेज से क्रियाशील एक सहृदय व्यक्ति है जिस पर मानव के राग-विरागों का, दुःख-सुखों का गतिमय प्रभाव पड़ता है। बच्चों को भूख से तड़पते छोड़ वह प्याले से अपने श्रांत मानस को नहीं बहला सकेगा। वह कहेगा—

हटो व्योम के मेघ पन्थ से
स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध' 'दूध' ओ वत्स ! तुम्हारा,
दूध खोजने हम जाते हैं !!

(हुँकार : दिनकर)

आज का कवि दुनिया की गतिविधि को समझता है। वह देखता है—

तलातल से उमड़ती आ रही है आग कोई

—दिनकर

और समय पड़ने पर वह सभी प्रकार के बलिदान के लिए तैयार है—

चाहती हो बुझाना यदि आज
होम की शिखा बिना सामान,
अभय दो, कूद पड़ूं जय बोल,
पूर्ण कर लूं अपना बलिदान !!

(हुंकार : दिनकर)

प्रगतिवाद स्वयं छायावाद की प्रतिक्रिया होने के कारण कुछ अनिवार्य विषमताओं से कुछ पंकिल सा होने लगा है। जिस प्रकार छायावाद के कवियों ने एक सीमित क्षेत्र के उपकरणों को ही—केवल मधु, स्वर्ण, ऊषा, स्वप्न, प्रभृति को ही कविता का

प्रकृत विषय मान लिया था, जिस प्रकार उन्होंने एकमात्र प्रेम और विरह-व्यंजना ही को काव्य का उपादान समझ रक्खा था, ठीक उसी प्रकार प्रगतिवाद के क्षेत्र में भी एक विशेष प्रकार की वस्तुएँ कविता के लिए उपयुक्त विषय कही जाने लगी हैं। प्रगतिवाद का समाजवाद अथवा मार्क्सवाद के साथ गठबन्धन किया जाने लगा है। यदि हँसिया हथौड़ा, वर्ग संघर्ष, कूड़ा-करकट, भैंसा गाड़ी, ट्राम-कार आदि को लेकर चलने वाली कविताओं को ही प्रगतिशीलता का सार्टिफिकेट दिया जाए तो यह महान् अनर्थ हो। प्रगति किसी सिद्धान्त विशेष के अन्धानुवर्तन में नहीं, किसी राजनीतिक विचारधारा के अनुगमन में नहीं, वरन् सामाजिक जीवन के वास्तविक निरीक्षण, उसकी समस्याओं के सम्यक् विश्लेपण और गतिशील चित्रण में है। साहित्य को हम राजनीति का अनुचर नहीं बना सकते। और न हम उसी मनोवृत्ति के कायल हैं जो पाश्चात्य से आने वाले सभी वादों को आदर्श मान हिन्दी में भी उसी की दुहाई देते हैं। रूस अथवा यूरोप से हमारी परिस्थितियाँ भिन्न हैं। हमारे समाजवाद की भी रूप-रेखा अपनी ही होगी। उसी के अनुसार अपने देश की वास्तविक समस्याओं के ही अनुसार हमारे सिद्धान्त बनेंगे। और साहित्य में जिसे हम प्रगतिवाद कहते हैं, वह मार्क्सवाद का हिन्दी संस्करण मात्र नहीं होगा, वरन् हमारे जीवन, की प्यास मिटाने वाली काव्य-धारा के रूप में होगा जिसमें राष्ट्र भी उन्नतिशील शक्तियों का योग होगा।

प्रगतिवाद के अन्दर हम उन सारी काव्य प्रवृत्तियों को लेंगे जो राष्ट्रीयता के सूत्रों को एकत्र कर हमारे सामूहिक जीवन को उन्नतोन्मुख करने की आकाँक्षा रखती हैं। इस दृष्टि से अपने

समय में भारतेन्दु भी प्रगतिशील थे। गुप्तजी की 'भारत भारती' भी प्रगतिशीलता का तत्कालीन रूप थी और आज 'एक भारतीय आत्मा,' 'नवीन', 'दिनकर', 'पन्त' आदि प्रगतिवाद के स्तम्भ हैं। प्रगतिवाद आशा है, युग को वह वाणी देगा जिससे एक राष्ट्र की मानवता की आशा आकांक्षाएँ मुखरित होंगी।



हिन्दी का वीर-साहित्य

किसी भी साहित्य-सरिता का प्रारम्भिक प्रवाह, यदि उसका विकास जीवन की स्वाभाविकता को लेकर हुआ है, सङ्घर्षमयी परिस्थितियों के बीच अपना अस्तित्व कायम करने की अनिवार्यता के कारण प्रखर एवं वेगवान् रहता है। उसमें अल्हड़ क्षोम और उच्छृङ्खल आकुलता मानों स्वभाव से ही रहती है। न केवल भाषा ही नवजात होने के कारण अपरिष्कृत एवं कर्कशता से मुक्त रहती है वरन भावनाएँ भी सद्यः विकसित प्रसून की तरह अपने सभी दल नहीं खोलतीं। वह काल—किसी नवीन भाषा में साहित्य रचना का वह प्रथम प्रभात—जातीय जीवन के संघर्षों का ही होता है, जिसमें कोई पुरानी सभ्यता अपनी सत्ता के लिए अन्तिम युद्ध में संलग्न होती है, और कोई नई सभ्यता आशा की प्रकाश-रश्मियों में अपनी अलसित आँखें खोलती है। हिन्दी-साहित्य के जन्म-काल की कहानी भी कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में छिपी है।

हिन्दू साम्राज्य नष्ट हो चुका था। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था, मानों विधाता ने भारत के भाग्य के सौ टुकड़े कर दिए हों। ये छोटे राज्य, अपनी लघुता में भी अहङ्कार से अभिभूत, अपनी ही कल्पनिक महत्ता के स्वप्न देखने वाले, भारत की समष्टिरूप से भारतीयता की ओर से सर्वथा उपेक्षापूर्ण निरन्तर आपस के ही झगड़ों में व्यस्त रहते थे।

मुसलमान भारत की गुलामी का परवाना लिए पश्चिम का द्वार खटखटा रहे थे और ये वेसुध क्षत्रिय आपस में ही मूँछें ऐंठ रहे थे। इनके गृहयुद्ध के कारण रूप में व्यक्तिगत अपमान

अथवा किसी सुन्दरी के रूप-गुण की कीर्त्ति सुन कर उसके अपहरण करने की अभिलाषा होती थी। कोई राष्ट्रीय गौरव की भावना, कोई देश को आततायियों से रक्षा की प्रेरणा इन युद्धों के मूल में न रहती थी।

अतः हम देखते हैं कि इस समय जिस साहित्य की सृष्टि हुई है, उसमें तलवारों की झनझनाहट और चमक तो है, पर इन्कलाब की वह जोशीली जय-ध्वनि नहीं जो वीर-काव्य में अपेक्षित है। तलवारों की झनझनाहट के बीच नूपुरों की रुनझुन है, वीरों की यशःपताका को उड़ाने की प्रेरणा कामिनी के उर्मिल अञ्चल से उद्भूत है। इस काल के वीर काव्य को हम वीराभासकाव्य (Psendo-heroic) ही कहेंगे, विशुद्ध वीर-काव्य नहीं। दलपत-विजय का 'खुमान रासो', नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' और चन्दवरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' सभी अपनी अतिशय शृंखला के कारण विशुद्ध वीरता के उशासन के अधिकारी नहीं। एक डूबते हुए राष्ट्र के हृदय में इतना बल कहाँ रह गया था कि वह वीरता का शंखनाद करता।

शीघ्र ही भारत ने अपनी आजादी खो दी। चारणों का आश्रयदाता अब कौन था ? अब वे किसकी वीरता की प्रशंसा के गीत गाते ? अतः देश के कवि ने लौकिक वैभव से निराश प्राणों का उपचार अलौकिक ऐश्वर्य की उद्भावना द्वारा किया और निर्गुण पन्थ के सन्त-काव्य, प्रेम-काव्य तथा सगुणोपासना के राम-काव्य, कृष्ण-काव्य आदि चल पड़े। साहित्य स्रोतस्विनी का प्रारम्भिक अल्हड़ वेग अब शान्त स्निग्ध था !

पर एक महान् देश की आत्मा चिरकाल तक कुचली न जा सकी। जो चिनगारी अब तक म्लेच्छों के शासन में दबी-दबी

बलती आ रही थी उसे अदूरदर्शी औरङ्गजेब के अनाचारों ने प्रज्वलित कर दिया। शिवाजी का सिंहनाद गूँज उठा। महाराष्ट्र की पहाड़ियों में भारत की पीड़ित आत्मा का विद्रोह प्रतिध्वनित हुआ। इसी प्रतिध्वनि को भूषण ने अपनी वाणी में चिरन्तन रूप प्रदान किया। भूषण की कविता तत्कालीन रीति-पद्धति पर होने के कारण परम्परा पालन तो है ही, एक राष्ट्रीय वीर की कीर्तिगाथा का स्वर उसमें समन्वित रहने के कारण यथेष्ट प्रगतिशील भी है। एक वीर की प्रशंसा में लिखी गई कविता, जिसका आत्मबल वीर नायक अथवा शत्रु, उद्दीपन, रणवाद्य शत्रु के अत्याचार आदि और अनुभाव युद्ध-कार्य होता है, उसे किसी की खुशामद में लिखी गई कविता कह कर नहीं टाला जा सकता। भूषण की कविता में वीर-रस का अच्छा परिपाक हुआ है। राष्ट्रीयता, आधुनिक विचार से चाहे न हो, पर उस समय की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता ही थी। मुसलमान देश के अंग न हो पाए थे। भारत में बस जाने पर भी वे अपने को अरब-फारस का समझते थे। अतः देश की तत्कालीन राष्ट्रीय भावना का प्रतिनिधित्व भूषण कर सके हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भूषण के पश्चात् वीरता की भावना हम भारतेन्दु की रचनाओं में पाते हैं। भारतेन्दु युग-पुरुष थे। नवीन युग की आशा-आकांक्षाओं को उन्होंने वाणी दी। उस वाणी में नवागत अँगरेजों को अधीनता से आक्रान्त भारतीय आत्मा का विद्रोह मुखरित हुआ। उस विद्रोह में केवल भावावेश न था, वरन् थी एक जाग्रत देश की, सदियों की सुषुप्ति के पश्चात् आत्म-निर्माण की प्रबल प्रेरणा—सम्पूर्ण भारत एक साथ बोल उठा—

आवहु ! सब मिलि रोवहु भारत भाई।
हा ! हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेश चलि जात, इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी, काल रोग बिस्तारी।
सब के ऊपर टिक्स की आफ़त भारी॥

कुछ ही दशाब्दियों बाद आनेवाले जनान्दोलनों का बीज सविनय अवज्ञा, स्वदेशी आन्दोलन, कर-बन्दी की मूल प्रेरणा हम भारतेन्दु की उक्त पंक्तियों में पाते हैं।

जोश और खरोश वाली वीरता जो पानी में आग लगा दे, मुर्दे दिलों में नया जीवन फूँक दे, यौवन में अल्हड़ तूफ़ान भर दे, ऐसी वीरता की भावना उनके विजयिनी-विजय वैजयंती आदि में देखिए। देश की अधोगति पर मर्माहत व्यथा से जलने वाले हृदय का एक चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

हा चित्तौर! हा हा पानीपत!
अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत!!
जा दिन तुव अधिकार नसायो
ता दिन क्यों नहिं धरनि समायो!

चित्तौर, पानीपत आदि का नाम ही हिन्दू हृदय में गौरव और वीरता का संचार करने वाला है।

पर अधिकतर भारतेन्दु ने हृदय की वेदना ही व्यक्त की है। देश की अवनत अवस्था पर आठ-आठ आँसू रोने में ही उनकी कविता प्रवृत्त रही है। क्रान्ति का उपक्रम, विध्वंस और महानाश के ताण्डव का आह्वान, जिसमें आत्म-बलिदान की नयी प्रेरणा हो, ऐसी वीरता वर्तमान युग में ही देखी गई। 'एक भारतीय आत्मा' की—

विश्व को चाहिए उच्च विचार,
नहीं, केवल अपना बलिदान ॥

अथवा—

चाहती हो बुझना यदि आज,
होम की शिखा बिना अभिमान ॥
अभय हो, कूद पड़ूँ जय बोल,
पूर्ण कर लूँ अपना बलिदान ॥

—दिनकर (हुँकार)

जैसी पंक्तियाँ आज ही लिखी गईं ।

वर्त्तमान असहयोग आन्दोलन की क्रियात्मक अनुभूति इसके पीछे है । युग-देवता गान्धी की आत्मा की ज्योति में रची गई हैं ऐसी कविताएँ, फिर क्यों न युवक इस बलिदान गीत पर न्यौछावर हों । भारत में बलिदानों का ताँता लगा, देश पर मिटनेवाले युवकों ने अहिंसात्मक वीरता का नया पाठ पढ़ा—शहीद होने में ही अमरत्व की अनुभूति की—

इन्हें मिटा लो चिन्ता क्या,
मिट कर शहीद कहलायेंगे ।
पर इनके शोणित से लाखों,
दीवाने बन जायेंगे ॥

पर साथ-साथ जहाँ निर्मल जलधारा की अबाध गति शैल-खण्डों से अवरुद्ध होती है, वहाँ फेन और झाग की पर्याप्त सृष्टि होती ही है । इसी नियम के अनुसार राष्ट्रीयता की इस निर्मलधारा के दमन के प्रयास ने उस उग्र क्रान्ति की भावना को जन्म दिया जिसका प्रतिनिधित्व 'नवीन' की इन पंक्तियों में है—

कवि कुछ ऐसी तान सुना दे,
जिससे उथल-पुथल मच जाये ।

एक हिलोर इधर से आये,
एक हिलोर उधर से आये।।
प्राणों के लाले पड़ जायें,
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये।

अथवा 'धूमकेतु' की निम्नलिखित पंक्तियों में—

माँ, मेरी ध्वंसक वीणा में
यौवन का उद्दतपन भर दे।
स्वर के एक-एक कम्पन में
महानाश का नर्तन कर दे।।

जिसकी तरुण तान को सुनकर
काँप उठें गिरि गह्वर सारे!
थर्रा दें दिगन्त को जिसके
तारों के उन्मत्त इशारे।।

इसमें विध्वंस का जोश तो है, पर निर्माण की वह क्रियात्मक प्रेरणा नहीं, जो क्रान्ति के मूल में होनी चाहिए। अतः यह हमारी वीर भावना की प्रकृत भावभूमि नहीं। आज की वीरता विध्वंस को लक्ष्य कर नहीं चलती, न आज शत्रु को अभिभूत, अपमानित या पददलित करने में ही हम अपने वीर-कर्म की इतिश्री समझते हैं। शत्रु के व्यक्तित्व के विरुद्ध नहीं, उसकी नीति के विरुद्ध ही हमारे युद्ध की घोषणा होती है। व्यक्तिरूप से तो आज सारा संसार हमारा बन्धु है—एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर। विश्व-बन्धुत्व का यह आदर्श अभिनव छायावाद में सम्यक् रूपेण मुखरित हुआ है। आज जब हमारी यह स्थिति है कि—

देखा दुखी एक भी भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय पर मेरे,
झट उमड़ी वेदना आई ॥

तो यह नितान्त असंभव है कि हम किसी व्यक्ति अथवा समाज विशेष से शत्रुता रक्खें, मुसलमान हमारे बन्धु हैं, अँगरेज हमारे मित्र ! यदि हमारा विरोध है तो उनकी भूलों से—उनकी भ्रान्त नीति से ! ठीक उतना ही जितना हमें अपनी कमजोरियों के प्रति विद्रोह है ।

इस चेतनाधार को लेकर चलनेवाला वीर-काव्य कभी हिंसा का प्रतिपादन नहीं कर सकेगा और न उसमें कटुता ही होगी ! वह उत्कृष्ट, श्रेष्ठ वीरता का उच्छ्वास होगा, जिसमें हिंसा के बदले आत्म-बलिदान, विध्वंस के बदले निर्माण और द्वेष एवं कटुता के बदले प्रगति-शीलता तथा प्रेम की भावना का ही प्राधान्य होगा । हिन्दी-कविता ने इस युग में इस उच्चादर्श को प्राप्त किया है ।

प्रेमचन्द का गोदान

"नाना रूपिणी माया जब व्यक्ति को अन्य सबके प्रति एक प्रकार के विरोध में उकसाकर उसे अहंभाव में दृढ़ रखने का आयोजन करती है, तब उसके भीतर का शुद्ध सच्चिदानन्द इस आयोजन को तोड़-फोड़ कर स्वयं प्रतिष्ठित रहने को सतत उत्सुक रहता है। यह द्वन्द्वावस्था ही जीवन की चेष्टा का और उपन्यास का मूल है। यही साहित्य-क्षेत्र है।

प्रेमचन्दजी इस द्वन्द्वावस्था को अच्छी सूक्ष्म दृष्टि और सहानुभूति के साथ चित्रित करते हैं और इस द्वन्द्व में वह जिस निर्मल प्रेमभाव की प्रतिष्ठा करते हैं वह देहातीत होता है—वह बीतते युग के साथ मिटता नहीं। वह सेवामय प्रेम दुनियादारी की गलतफहमियों की, अज्ञानता की, विफलता की, दीनता की कितनी ही कठिनाइयों के साथ लड़ता-झगड़ता हुआ भी अक्षुण्ण और उत्तरोत्तर रहता है और रह सकता है—इसका चित्र प्रेमचन्दजी सजीव करके उठा देते हैं। यही सजीव प्रेम, अर्थात् सत्य जो स्वयं टिकाऊ है, उनकी कृति को भी चलते समय के साथ मरने नहीं देगा। मैं कहता हूँ कि प्रेमचन्दजी ने अपनी कृति में जो चिरस्थायी और कर्मशील प्रेम का बीज रख दिया है वह सामयिक नहीं है, उसमें स्थायित्व है।"

—(जैनेन्द्रकुमार—'प्रेमचन्द की कला' शीर्षक निबन्ध में)

या यह कि ये बातें गोदान पर कैसे और कहाँ तक लागू होती हैं।

ससीम मानव का अपूर्ण जीवन अपनी लघु चेतना को लेकर उस असीम चेतनामय पूर्णता से एकाकार होने को सतत प्रयत्नशील है, जिसकी छाया में जड़ चेतन प्रकृति प्रतिपल स्पन्दित और क्रियाशील है; जो विश्व का आदि, मध्य और अन्त है। व्यक्ति के जीवन में अपूर्ण की पूर्णता का यही प्रयास, ससीम का असीम से तादात्म्य स्थापित करने की यही प्रेरणा कला की जननी है। इस पूर्णता में रुकावट आती है, देश और काल की। इन्हीं सीमाओं को पार करने में कला की विजय मैं मानता हूँ। इस विजय में 'प्रेम' साधन है, 'सत्य' साध्य।

मेरे कहने का मतलब सीधा है। मनुष्य जितना ही अपने व्यक्तित्व की परिधि बढ़ाने जाता है, वह जितना ही अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को भूल कर विश्व के अधिक-से-अधिक हिस्से को अपना समझ उसके लिए त्याग करता है और उसके सुख-दुख से प्रभावित होता है, और उसमें योग देता है, उतना ही उसे स्थायी सन्तोष, शान्ति और आनन्द मिलते हैं। इसमें यह शरीर और इन्द्रियाँ, अथवा उसका 'अहं' बाधक है। इसी 'अहं' के विरुद्ध और विश्व के एकत्व के पक्ष में युद्ध करना मानव का 'सत्य' है। इस युद्ध की प्रेरणा हमें मिलती है 'प्रेम' से। अपने प्रेम के दायरे को हम जितना ही विस्तृत, देशकाल की सीमाओं से मुक्त, और अपार्थिव बनायेंगे, उतना ही हम विश्व के एकत्व के अधिक निकट पहुँचेंगे। प्रेम के दायरे के विस्तार का सतत प्रयास ही कला है और उसकी शाब्दिक अभिव्यञ्जना साहित्य।

हमें देखना है गोदान में प्रेमचन्द्रजी ने इसकी अभिव्यञ्जना में कहाँ तक सफलता पाई।

प्रेमचन्द का गोदान

"नाना रूपिणी माया जब व्यक्ति को अन्य सबके प्रति एक प्रकार के विरोध से उकसाकर उसे अहंभाव में दृढ़ रखने का आयोजन करती है, तब उसके भीतर का गुप्त सच्चिदानन्द इस आयोजन को तोड़-फोड़ कर स्वयं प्रतिष्ठित रहने को सतत उत्सुक रहता है। यह द्वन्द्वावस्था ही जीवन की चेष्टा का और उपन्यास का मूल है। यही साहित्य-क्षेत्र है।

प्रेमचन्दजी इस द्वन्द्वावस्था को अच्छी सूक्ष्म दृष्टि और सहानुभूति के साथ चित्रित करते हैं और इस द्वन्द्व में वह जिस निर्मल प्रेमभाव की प्रतिष्ठा करते हैं वह देहातीत होता है—वह बीतते हुए के साथ मिटता नहीं। वह सेवामय प्रेम दुनियादारी की गलतफहमियों की, अज्ञानता की, विफलता की, दीनता की कितनी ही कठिनाइयों के साथ लड़ता-झगड़ता हुआ भी अक्षुण्ण और उत्सर्गतत्पर रहता है और रह सकता है—इसका चित्र प्रेमचन्द्रजी सजीव करके उठा देते हैं। वही सजीव प्रेम, अर्थात् सत्य, जो स्वयं टिकाऊ है, उनकी कृति को भी चलते समय के साथ मरने नहीं देगा। मैं कहता हूँ कि प्रेमचन्दजी ने अपनी कृति में जो चिरस्थायी और कर्मशील प्रेम का बीज रख दिया है, वह सामयिक नहीं है, उसमें स्थायित्व है।"

—(जैनेन्द्रकुमार—'प्रेमचन्द की कला' शीर्षक निबन्ध में)

उपर्युक्त पंक्तियों में जैनेन्द्रजी ने प्रेमचन्द की कला के विषय में जो कुछ कहा जा सकता था, सूत्र रूप में कह डाला। अब मैं जो कुछ कहूँगा, वह या तो इसी की व्याख्या के रूप में होगा

या यह कि ये बातें गोदान पर कैसे और कहाँ तक लागू होती हैं।

ससीम मानव का अपूर्ण जीवन अपनी लघु चेतना को लेकर उस असीम चेतनामय पूर्णता से एकाकार होने को सतत प्रयत्नशील है, जिसकी छाया में जड़ चेतन प्रकृति प्रतिपल स्पन्दित और क्रियाशील है ; जो विश्व का आदि, मध्य और अन्त है। व्यक्ति के जीवन में अपूर्ण की पूर्णता का यही प्रयास, ससीम का असीम से तादात्म्य स्थापित करने की यही प्रेरणा कला की जननी है। इस पूर्णता में रुकावट आती है, देश और काल की। इन्हीं सीमाओं को पार करने में कला की विजय मैं मानता हूँ। इस विजय में 'प्रेम' साधन है, 'सत्य' साध्य।

मेरे कहने का मतलब सीधा है। मनुष्य जितना ही अपने व्यक्तित्व की परिधि बढ़ाते जाता है, वह जितना ही अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को भूल कर विश्व के अधिक-से-अधिक हिस्से को अपना समझ उसके लिए त्याग करता है और उसके सुख-दुख से प्रभावित होता है, और उसमें योग देता है, उतना ही उसे स्थायी सन्तोष, शान्ति और आनन्द मिलते हैं। इसमें यह शरीर और इन्द्रियाँ, अथवा उसका 'अहं' बाधक है। इसी 'अहं' के विरुद्ध और विश्व के एकत्व के पक्ष में युद्ध करना मानव का 'सत्य' है। इस युद्ध की प्रेरणा हमें मिलती है 'प्रेम' से। अपने प्रेम के दायरे को हम जितना ही विस्तृत, देशकाल की सीमाओं से मुक्त, और अपार्थिव बनायेंगे, उतना ही हम विश्व के एकत्व के अधिक निकट पहुँचेंगे। प्रेम के दायरे के विस्तार का सतत प्रयास ही कला है और उसकी शाब्दिक अभिव्यञ्जना साहित्य।

हमें देखना है गोदान में प्रेमचन्द्रजी ने इसकी अभिव्यञ्जना में कहाँ तक सफलता पाई।

प्रेमचन्द का गोदान

"नाना रूपिणी माया जब व्यक्ति को अन्य सबके प्रति एक प्रकार के विरोध से उकसाकर उसे अहंभाव में दृढ़ रखने का आयोजन करती है, तब उसके भीतर का गुप्त सच्चिदानन्द इस आयोजन को तोड़-फोड़ कर स्वयं प्रतिष्ठित रहने को सतत उत्सुक रहता है। यह द्वन्द्वावस्था ही जीवन की चेष्टा का और उपन्यास का मूल है। यही साहित्य-क्षेत्र है।

प्रेमचन्दजी इस द्वन्द्वावस्था को अच्छी सूक्ष्म दृष्टि और सहानुभूति के साथ चित्रित करते हैं और इस द्वन्द्व में वह जिस निर्मल प्रेमभाव की प्रतिष्ठा करते हैं वह देहातीत होता है—वह बीतते हुए के साथ मिटता नहीं। वह सेवामय प्रेम दुनियादारी की गलतफहमियों की, अज्ञानता की, विफलता की, दीनता की कितनी ही कठिनाइयों के साथ लड़ता-झगड़ता हुआ भी अक्षुण्ण और उत्सर्गतत्पर रहता है और रह सकता है—इसका चित्र प्रेमचन्द्रजी सजीव करके उठा देते हैं। यही सजीव प्रेम, अर्थात् सत्य, जो स्वयं टिकाऊ है, उनकी कृति को भी चलते समय के साथ मरने नहीं देगा। मैं कहता हूँ कि प्रेमचन्दजी ने अपनी कृति में जो चिरस्थायी और कर्मशील प्रेम का बीज रख दिया है, वह सामयिक नहीं है, उसमें स्थायित्व है।"

—(जैनेन्द्रकुमार—'प्रेमचन्द की कला' शीर्षक निबन्ध में)

उपर्युक्त पंक्तियों में जैनेन्द्रजी ने प्रेमचन्द की कला के विषय में जो कुछ कहा जा सकता था, सूत्र रूप में कह डाला। अब मैं जो कुछ कहूँगा, वह या तो इसी की व्याख्या के रूप में होगा

या यह कि ये बातें गोदान पर कैसे और कहाँ तक लागू होती हैं।

ससीम मानव का अपूर्ण जीवन अपनी लघु चेतना को लेकर उस असीम चेतनामय पूर्णता से एकाकार होने को सतत प्रयत्नशील है, जिसकी छाया में जड़ चेतन प्रकृति प्रतिपल स्पन्दित और क्रियाशील है; जो विश्व का आदि, मध्य और अन्त है। व्यक्ति के जीवन में अपूर्ण की पूर्णता का यही प्रयास, ससीम का असीम से तादात्म्य स्थापित करने की यही प्रेरणा कला की जननी है। इस पूर्णता में रुकावट आती है, देश और काल की। इन्हीं सीमाओं को पार करने में कला की विजय मैं मानता हूँ। इस विजय में 'प्रेम' साधन है, 'सत्य' साध्य।

मेरे कहने का मतलब सीधा है। मनुष्य जितना ही अपने व्यक्तित्व की परिधि बढ़ाने जाता है, वह जितना ही अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को भूल कर विश्व के अधिक-से-अधिक हिस्से को अपना समझ उसके लिए त्याग करता है और उसके सुख-दुख से प्रभावित होता है, और उसमें योग देता है, उतना ही उसे स्थायी सन्तोष, शान्ति और आनन्द मिलते हैं। इसमें यह शरीर और इन्द्रियाँ, अथवा उसका 'अहं' बाधक है। इसी 'अहं' के विरुद्ध और विश्व के एकत्व के पक्ष में युद्ध करना मानव का 'सत्य' है। इस युद्ध की प्रेरणा हमें मिलती है 'प्रेम' से। अपने प्रेम के दायरे को हम जितना ही विस्तृत, देशकाल की सीमाओं से मुक्त, और अपार्थिव बनायेंगे, उतना ही हम विश्व के एकत्व के अधिक निकट पहुँचेंगे। प्रेम के दायरे के विस्तार का सतत प्रयास ही कला है और उसकी शाब्दिक अभिव्यञ्जना साहित्य। हमें देखना है गोदान में प्रेमचन्द्रजी ने इसकी अभिव्यञ्जना में कहाँ तक सफलता पाई।

गोदान की कथा वस्तु सर्वांश में भारतीय है पर उसमें कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण वह केवल भारत ही की नहीं विश्व-भर की चीज़ है, क्योंकि उसमें जो जीवन का जाग्रत स्पन्दन है वह एक देशीय नहीं, सर्व देशीय है—वरन् सर्वकालिक भी। ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे दो कथानक एक साथ चल रहे हों, जिसमें एक में होरी और धनियाँ की प्रधानता है और दूसरे में मिस्टर मेहता और मिस मालती की। पर यह सच नहीं। मूल कथानक एक ही है, जिसकी नायक-नायिका होरी-धनियाँ है। उन्हीं से कथा का आरम्भ है और उन्हीं से अन्त। होरी—एक प्रतिनिधि भारतीय किसान की सब से बड़ी आकांक्षा होती है एक गाय लेने की। गाय—एक साधु, शान्त और परोपकारी जीव, त्यागमय, परोपकार-पूर्ण कृषक जीवन का प्रतीक! फिर उसी गाय के पीछे कैसी-कैसी घटनाएँ घटती हैं। पर सभी स्वाभाविक रूप से। लेखक पाठक के ऊपर कोई आकस्मिक आघात नहीं पहुँचने देना चाहता। वह उसे अधिक देर तक उत्कण्ठायुक्त और उत्सुक नहीं रखता और न परदे के पीछे संचित होने वाले घटनाक्रम के अकस्मात् रहस्यभेद से उसे आश्चर्य चकित और स्तम्भित कर देना चाहता है। वह जैसे पाठक से कोई भेद छिपाता ही नहीं। जैनेन्द्र के शब्दों में, "अपने पाठक के साथ मानों वे अपने भेद को बांटते चलते हैं। अंग्रेजी में कहेंगे कि वह पाठक को Confidence में, विश्वास में ले लेते हैं।" फिर भी मनोरञ्जकता में या कौतूहल में कोई ऐसी कमी नहीं आती। यही प्रेमचन्द की विशेषता है, जो शरत और बंकिम में भी दुष्प्राप्य ही होगी। दूसरे शब्दों में प्रेमचन्दजी ने सत्य का चित्रण सहज स्वाभाविक ढंग से किया है।

घटना में उतार-चढ़ाव है पर आकस्मिक अथवा झटके

नहीं। मानो कथानक का प्रवाह चंचल पहाड़ी निर्झरिणी की भांति नहीं, वरन् शान्त, स्निग्ध मन्द पवन द्वारा प्रकम्पित, मृदुल लहरियों से युक्त वेगवती नदी के समान है। उसमें मर्म-विशालता भी है, अर्थ गम्भीरता भी। एक गौरव युक्त महिमा है उसमें जो समय के साथ मिटने वाली नहीं, क्योंकि उसमें अकलुप, निर्वन्ध प्रेम की व्याख्या है। उस व्याख्या का आधार है होरी-धनियाँ, गोवर-झुनियाँ, मातादीन सिलिया, मि० मेहता-मालती और खन्ना-गोविन्दी के प्रेम के रूपों का सामञ्जस्य। प्रेम का जो आदर्श प्रेमचंदजी ने गोदान में ध्वनित किया है, वह अडिग है, वाधाओं और विपरीत-परिणामों से नहीं कमने वाला [1] सर्व-देशीय है और दुश्मन को भी अपनी सीमाहीन छाया के अन्दर विश्राम देने वाला है,[2] शाश्वत है, यौवन का उन्माद और रूप का नशा उतर जाने पर भी अशेप न होने वाला[3] और है वह निरीह, निस्पृह, जो अपने उपकारों का वदला चाहे विना, प्रति-दान चाहे विना ही अपनी अतुल सम्पत्ति विश्व के चरणों पर विखेरती है।[4] उसमें त्याग है, समर्पण है, और है जीवन की अमिट साधना जो काल से भी दुर्गम है। इसी प्रेम की प्राप्ति के पश्चात् जीवन का सत्य मिल जाता है। फिर कुछ पाने की अभिलाषा नहीं रहती। रूप, सम्पत्ति, यौवन और सभी वाह्य उपकरण निष्प्रयोजन हो जाते हैं और सेवा ही जीवन का व्रत वनता है, जिससे जीवन का महत्तम सुख, महत्तम सन्तोप और चरम शान्ति का लाभ होता है। उदाहरण है, मिस मालती की

परिवर्तित अवस्था जो मि० मेहता जैसे दार्शनिक व्यक्ति के संसर्ग से सम्भव हुआ। मेहता दार्शनिकता के बोझिल पंखों पर चढ़ कर अनुभूति की जिस ऊँचाई तक नहीं चढ़ सके वहां मालती सहज प्रेम और आत्म समर्पण द्वारा पहुंच सकी। इसमें ज्ञान पर प्रेम की विजय की व्यञ्जना है। शायद प्रेमचन्द कहना चाह रहे हों—परीक्षक की वैज्ञानिक दृष्टि से विश्व को देखने की अपेक्षा विश्व जैसा है, उसे वैसा ही अपना लेना, अपने में समा लेना और अपने व्यक्तित्व से, प्रेम से रसमग्न कर देना कहीं श्रेयस्कर है! यह महान् लेखक का सन्देश है जो युग-युग तक गूँजता रहेगा और राष्ट्र और भाषा की सीमाओं की उपेक्षा कर विश्व भर को अनुप्राणित करता रहेगा।

फिर भी गोदान में प्रेमचन्द की भारतीयता मुखरित हुए बिना नहीं रही। आखिर व्यक्ति व्यक्ति ही तो है। इसका फल यह हुआ है कि उन्होंने भारतीय ग्रामीण वातावरण के चित्रण में अभूतपूर्व सफलता पाई है। ग्राम्य-जीवन भारतीय संस्कृति का प्राण है। सदियों से भारत अपने प्राणों में पीड़ा पाले पड़ा रहा। साहित्य-मन्दिर के किसी भी पुजारी ने उसे वाणी देने की सुधि न ली। यह प्रेमचन्द जैसे अमर कलाकार का काम है कि उन्होंने भारत की आत्मा की इस चिरकालीन मूकता को वाङ्मय कर दिया।

और होरी के चरित्र में भारत का ग्रामीण जीवन बोल उठा। इतना दुःख, इतना अत्याचार, इतना उत्पीड़न फिर भी सब स्वीकार! मेहनत की रोटी भी नसीब नहीं, फिर भी अनवरत परिश्रम किए जाना, दूसरों के लिए, केवल अपना कर्तव्य जान कर! इसे बेबसी कहें या महानता? होरी के चरित्र में एक मौन समर्पण है; उसकी सुकृतियाँ विज्ञापन की प्यासी नहीं, आत्म-सन्तोष की भूखी हैं। उसके व्यक्तित्व के चित्रण में

मर्यादावाद की वकालत सी नज़र आती है पर उसके साथ-साथ सामाजिक रूढ़ियों की ओर व्यंग्य भरे संकेत भी हैं। व्यंग्य के इन चित्रों की पूर्ति में नोखेराम, लाला पटेश्वरी, दातादीन, झिंगुरी साव और दुलारी सहुआइन सहायक हैं। इन लोगों के चरित्र में हमें जीवन का स्पन्दन नहीं मिलता। जैसे ये मशीन के पुर्जेमात्र बच रहे हों, इनमें हृदय नामक कोई चीज रही होगी जो किसी व्यापक राजनीतिक सत्ता की अनिवार्य गुलामी के फलस्वरूप अब अशेष हो चुकी है! ये केवल व्यवहारी जीव हैं, रुपया कमाने के फन में होशियार और इन मामलों में निर्मम जो समझौता नहीं जानते! इनके विशाल आडम्बरपूर्ण जीवन से होरी के सरल, स्वाभाविक, सेवामय, कर्ममय जीवन पर अप्रत्यक्ष प्रकाश पड़ता है।

होरी और धनियाँ का चरित्र स्थिर (Static) है। उनमें बाह्य और आन्तरिक अधिक परिवर्तन नहीं। समय के साथ वे नहीं बदलते। पर 'गोवर' और चरित्र गत्यात्मक (dynomic) है। गोवर में अल्हड़ यौवन की इठलाती चाल है जो आगे-पीछे सोचना नहीं जानता। उसका स्वभाव उस पहाड़ी झरने सा है जो प्रथम बरसात की बाढ़ में ही उतराता चलता है, किसी को कुछ नहीं समझता, पिता-माता को भी नहीं, जिन्होंने जन्म से ही उसे पाला पोसा, अपने हृदय के रक्त से सींच कर उसके जीवन-तरुवर को बड़ा किया। पर दुःखों की ठोकर खाकर वह भी ठीक हो जाता है। दुःख उसके जीवन में शिक्षक की भाँति आता है और उसे वस्तु-स्थिति का ज्ञान करा उसके सुखमय जीवन की उच्छृङ्खलता उससे दूर कर देता है। फिर वह भी समझने लगता है, और झुनिया भी समझने लगती है कि प्रेम क्या है। प्रेम में अभिमान की, स्वार्थ की, अहं की गुञ्जायश ही कहाँ—यह मनुष्य तभी सीख पायगा जब वह कुछ पाकर खो

देगा, जब उसे ठोकरें लगेंगी। और यह समझ लेने पर वह अपने को विश्व में खो देगा।

मालती फूलों की सेज पर पली, उसने सदा सुख के सपने देखे। वैभव ही उसका संगी रहा। फिर भी जो सुख उसने प्रेम की वास्तविकता समझ कर, दीन-दुखियों की सेवा में पाया, वह उसे पहले कहीं नहीं मिला था। वह प्रेम के उस आदर्श पर पहुँची जहाँ कुछ पाने की, कुछ अपनाने की अभिलाषा ही नहीं रह जाती। मि० मेहता से विवाह इसलिए तो नहीं किया उसने! अधिकार के बदले समर्पण ही उसे अधिक प्रिय था—वह समर्पण जो किसी एक व्यक्ति के सीमित दायरे में न रह विश्व भर के प्रति किया जाता हो। उसी से उसका जीवन धन्य हो गया। उसने वह पाया जो शायद खन्ना, और तन्खा और रायसाहब भी कभी नहीं पा सकते। इन लोगों का जीवन आत्मभोग को प्रधानता देता था, अपनी ही व्यक्तिगत महानता में सन्तोष खोजता था। अतः उन्हें वह मिलती कैसे जो आत्मदान में है। ये पैसे के, ख्याति के, प्रतिष्ठा के पुजारी अन्त तक असंतुष्ट रहे।

चरित्र-चित्रण में आदर्शों की व्यंजनामात्र ही नहीं है वरन् कला कौशल भी है। जिस चरित्र को उठया, उसकी रूप-रेखा ऐसी खींच दी कि पाठक को पता नहीं लगा कि यह काल्पनिक है या वास्तविक! पर वे पहले आन्तरिक रूपरेखा खींचते हैं, पात्र का मनोविज्ञान, पात्र का अन्तःकरण वे पहले टटोलते हैं, तब फिर वे जब आवश्यकता हुई, तो बाह्य रूप-रेखा भी अंकित करते हैं। पहला कार्य वे कथोपकथन द्वारा सिद्ध करते हैं, जिसमें पात्रों की अनुकूलता की विशेषता रहती है। आप कथोपकथन की भाषा, शब्दयोजना और शैली से ही समझ जायँ कि यह अधेड़, नर्म स्वभाव वाला, समझदार होरी बो

रहा है या उद्धत युवक गोबर ; यह व्यवहार कुशल तंखा अथवा खन्ना की आवाज़ है या आदर्शवादी और गम्भीर दार्शनिक मेहता की ! कथोपकथन द्वारा व्यक्त पात्रों के विचारों में भी उनकी स्थिति की अनुकूलता है, स्वाभाविकता है, मनोवैज्ञनिकता है ।

इस प्रकार उनकी अन्य कई कृतियों की तरह गोदान में भी कला ने उनके आदर्शवाद का साथ दिया है। फिर भी आदर्शवाद पहले है, फिर कला। मानों आदर्श प्रतिष्ठा को ही उद्देश्य मान कर वे लिखने बैठे हों। क्योंकि कहीं-कहीं तो उन्हें हम खुले शब्दों में आदर्श की घोषणा करते पाते हैं। उदाहरणतः मेहता की वे उक्तियाँ हैं जहाँ उन्होंने नारी-जीवन का आदर्श बताया है, वही आदर्श जो उस समय मालती में नहीं था और फिर पीछे से आ गया। शायद मेहता के संसर्ग ने उसके हृदय में सोए हुए प्रेम को जगा दिया, इसीलिए। "जगत में जो कुछ सुन्दर है, नारी को मैं उसी का प्रतीक समझता हूँ।" आदि वाक्यों का इससे सम्बन्ध है।

फिर भी यह कहना ग़लत होगा कि प्रेमचन्द उपदेशक पहले हैं कलाकार बाद में। वे दोनों एक साथ हैं। उनका कलाकार उनके उपदेशक के साथ चलता है। और कहीं भी उपदेशक उनके कलाकार को अभिभूत और पराजित नहीं करने पाया है। उनका उपदेशक बोलता है ज़रूर, पर अभिधा से नहीं, व्यंजना से। और वह भी कलात्मक ही है !

वस्तुतः उन्होंने वसुधा के चिरन्तन सत्य का अभिनव सौन्दर्यमय प्रकाशन किया है जिसमें आदर्श की प्रतिष्ठा के कारण मानवता के अतिशय कल्याण की भावना निहित है। यह सत्य, यह सौन्दर्य, यह कल्याण; कालातीत हैं, देश व सीमाओं के परे। और इसीलिए, जैनेन्द्र के ही शब्दों में "प्रेमचन्दजी की कृति किसी न किसी हद तक विश्व और भविष्य व और बढ़ेगी। निस्सन्देह उसमें ऐसा बीज है !"......

रहा है या उद्धत युवक गोबर ; यह व्यवहार कुशल तंखा अथवा खन्ना की आवाज़ है या आदर्शवादी और गम्भीर दार्शनिक मेहता की ! कथोपकथन द्वारा व्यक्त पात्रों के विचारों में भी उनकी स्थिति की अनुकूलता है, स्वाभाविकता है, मनोवैज्ञनिकता है।

इस प्रकार उनकी अन्य कई कृतियों की तरह गोदान में भी कला ने उनके आदर्शवाद का साथ दिया है। फिर भी आदर्शवाद पहले है, फिर कला। मानों आदर्श प्रतिष्ठा को ही उद्देश्य मान कर वे लिखने बैठे हों। क्योंकि कहीं-कहीं तो उन्हें हम खुले शब्दों में आदर्श की घोषणा करते पाते हैं। उदाहरणत: मेहता की वे उक्तियाँ हैं जहाँ उन्होंने नारी-जीवन का आदर्श बताया है, वही आदर्श जो उस समय मालती में नहीं था और फिर पीछे से आ गया। शायद मेहता के संसर्ग ने उसके हृदय में सोए हुए प्रेम को जगा दिया, इसीलिए। "जगत में जो कुछ सुन्दर है, नारी को मैं उसी का प्रतीक समझता हूँ।" आदि वाक्यों का इससे सम्बन्ध है।

फिर भी यह कहना गलत होगा कि प्रेमचन्द उपदेशक पहले हैं कलाकार बाद में। वे दोनों एक साथ हैं। उनका कलाकार उनके उपदेशक के साथ चलता है। और कहीं भी उपदेशक उनके कलाकार को अभिभूत और पराजित नहीं करने पाया है। उनका उपदेशक बोलता है जरूर, पर अभिधा से नहीं, व्यंजना से। और वह भी कलात्मक ही है !

वस्तुतः उन्होंने वसुधा के चिरन्तन सत्य का अभिनव सौन्दर्यमय प्रकाशन किया है जिसमें आदर्श की प्रतिष्ठा के कारण मानवता के अतिशय कल्याण की भावना निहित है। यह सत्य, यह सौन्दर्य, यह कल्याण, कालातीत है, देश की सीमाओं के परे। और इसीलिए, जैनेन्द्र के ही शब्दों में "प्रेमचन्दजी की कृति किसी न किसी हद तक विश्व और भविष्य की ओर बढ़ेगी। निस्सन्देह उसमें ऐसा बीज है !"...